काव्य-सौरभ



सम्पादक
पुरुषोत्तमदास मोदी



काव्य-सौरभ

•

सम्पादक
पुरुषोत्तमदास मोदी

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

KAVYA-SAURABH

Edited by

Purushottam Das Modi

ISBN : 81-7124-462-9

संस्करण : 2006 ई०

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन

चौक, वाराणसी-२२१ ००१

फोन व फैक्स : (0542) 2413741, 2413082

E-mail : vvp@vsnl.com ● sales@vvpbooks.com

Website : www.vvpbooks.com

मुद्रक

वाराणसी एलेक्ट्रॉनिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०

चौक, वाराणसी-२२१ ००१

प्राक्कथन

प्रस्तुत काव्य-संग्रह स्नातक विद्यार्थियों के निमित्त तैयार किया गया है । इसमें ऐसी ही रचनाओं का समावेश करने का प्रयत्न किया गया है, जो इन कक्षाओं के स्तर के अनुकूल हों और सरलता से उनकी समझ में आ सकें । इसके साथ ही यह भी ध्यान में रखा गया है कि हिन्दी-साहित्य के प्रत्येक युग के प्रतिनिधि-कवियों की रचनाओं के कुछ अवतरण इस संग्रह में अवश्य आ जायँ, ताकि हिन्दी काव्य-धारा के विकास को समझने में उन्हें सरलता हो, तथा विभिन्न कालों की उच्चकोटि की रचनाओं की एक बानगी उन्हें प्राप्त हो सके । काव्य के अवतरणों का संकलन और संचयन करते समय अहिन्दी भाषी प्रदेशों के विद्यार्थियों की कठिनाइयों को भी दृष्टि में रखा गया है । यह संग्रह हिन्दी भाषी एवं अहिन्दी भाषी विद्यार्थीवर्ग के लिए समान रूप से उपयोगी हो सके, इसके लिए भरसक प्रयत्न किया गया है ।

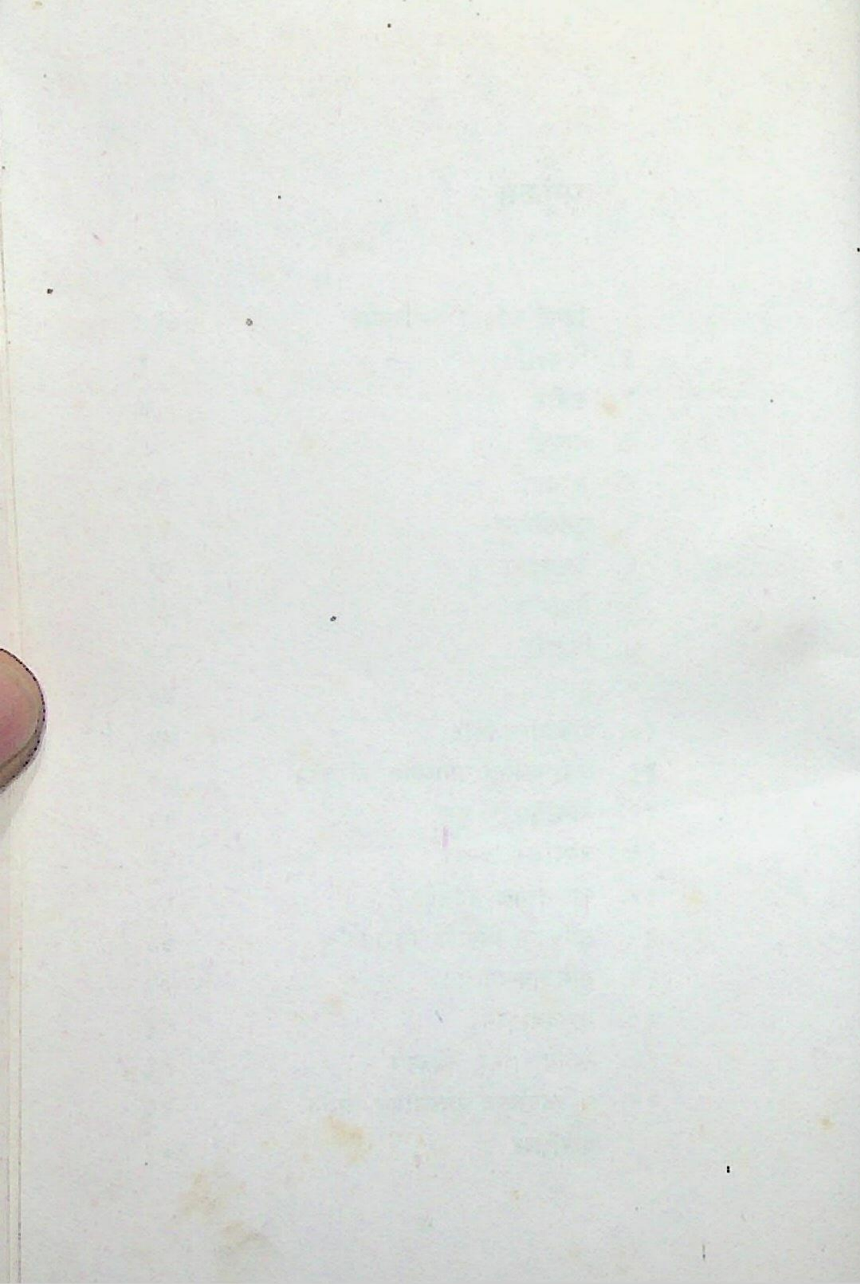
काव्य-संग्रह के साथ ही हिन्दी काव्य-धारा के विकास की एक संक्षिप्त रूप-रेखा भी दे दी गयी है, जिससे विद्यार्थियों को हिन्दी-काव्य के विकास का भी थोड़ा परिचय प्राप्त हो जाय । कठिन शब्दों के अर्थ देते समय उनके दृष्टिकोण का ही अधिक ध्यान रखा गया है । किसी कवि-विशेष की रचना पढ़ते समय कवि के प्रति भी

जिज्ञासा प्रकट होती है, इस हेतु संक्षेप में कवि-परिचय दिया गया है। प्रश्न-संकेत की सहायता से विद्यार्थीगण मूल सामग्री और कवि के प्रति कुछ विशेष जानकारी के लिए प्रेरित हो सकेंगे।

इस संग्रह में जिन कवियों की रचनाएँ संगृहीत हैं, उन सबके प्रति हृदय से आभार।

सम्पादक

अनुक्रम



हिन्दी कविता का विकास

हिन्दी-साहित्य का इतिहास प्रायः चार कालों में विभाजित किया जाता है। यद्यपि इस काल-विभाजन का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है, फिर भी जिन सामाजिक, राजनैतिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों को दृष्टि में रखा गया है, उन पर विचार करते हुए इससे स्पष्ट विभाजन हो भी नहीं सकता। हिन्दी-साहित्य का विकास जिन चार चरणों में से होकर गुजरा है या गुजर रहा है उनका काल-विभाजन निम्नलिखित है :—

१. आदिकाल—(वीरगाथा-काल, सिद्ध-सामन्त-काल या चारण-काल, सं० १००० से १३७५ विक्रमी)।
२. पूर्व मध्यकाल—(भक्तिकाल, सं० १३७५ से १७०० वि०)।
३. उत्तर मध्यकाल—(रीतिकाल, अलंकृत काल, सं० १७०० से १९०० वि०)।
४. आधुनिककाल—(सं० १९००............)।

हिन्दी-साहित्य का वास्तविक विकासकाल कब से प्रारम्भ होता है, यह कहना बड़ा कठिन है। यों तो सामान्यतया सं० १०५० वि० के आस-पास से हिन्दी काव्य का उदय माना जाता है पर अब कुछ ऐसी सामग्री भी प्रकाश में आई है, जो इस प्रारंभिक काल को और भी पीछे खींच ले जाती है। बौद्ध-धर्म की महायान-शाखा की सहजयान उपशाखा में बहुत-से ऐसे सिद्ध थे जिन्होंने धर्मोपदेश के लिए देशी भाषाओं को ही अपना माध्यम बनाया था। इनकी संख्या ८४ मानी जाती है, जिनमें सिद्ध सरहपा

वीरगाथा काल
[सं० १०००—१३७५ वि०]

का जीवन-काल ८वीं शती वि० में होने के कारण इस परम्परा के वे प्रथम कवि ठहरते हैं। यह सिद्ध-परम्परा ११वीं शती तक चलती रही। इन सिद्धों की रचनाएँ अब धीरे-धीरे प्राप्त हो रही हैं। इनके चर्यापदों, गीतों और पदों की भाषा हिन्दी के प्रारम्भिक रूप का बोध हमें कराती है। यदि सिद्ध-साहित्य को लक्ष्य में लिया जाय तो हिन्दी का आदिकाल सं० ७०० से १००० वि० और वीरगाथा काल सं० १००० से १३७५ वि० इस प्रकार का विभाजन अधिक उपयुक्त होगा।

यहाँ सरहपा के कुछ दोहे द्रष्टव्य हैं :—

जहिं मन पवन न संचरइ, रवि ससि नाहिं पवेस।
तहि बट चित्त बिसाम करु, सरेहे करिअ उवेस ॥
जीवन्तह जो नउ जरइ, सो अजरामर होइ।
गुरु उपएसें विमलमइ, सो पर धण्णा कोइ ॥

सामान्य-परिचय—हिन्दी-साहित्य का उदय ऐसे युग में हुआ था जब भारत की ओर मध्य एशिया के मुसलमानों की दृष्टि लग चुकी थी। उनके इक्के-दुक्के संगठित आक्रमण आरम्भ हो चुके थे। इधर इस देश के राजा-महाराजा आपस के ईर्ष्या-द्वेष से ही खोखले होते जा रहे थे। हर्षवर्द्धन की मृत्यु (सं० ७०४) के पश्चात् ऐसा कोई भी राजा नहीं हुआ, जिसने भारत के चारों कोनों में एक-छत्र एवं सुव्यवस्थित शासन स्थापित किया हो। उत्तर भारत कई छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हो गया था। राजाओं में ऐक्य और सौमनस्य का सर्वथा अभाव था। यदि एक राजा पर किसी मुसलमान आक्रमणकारी ने आक्रमण किया, तो दूसरे उसका साथ न देकर, तमाशा देखते थे। कुछ धार्मिक सम्प्रदायों के सत्ताधारी एवं राज्यों के शासक अपने स्वार्थों या आपसी मन-मुटावों के फलस्वरूप भी बाहरी आक्रामकों का मार्ग-दर्शन करते थे। फलतः धीरे-धीरे मुसलमानी सत्ता अपने पैर जमाने लगी और हिन्दू जनता और राजागण— सभी दुर्गति-ग्रस्त होने लगे।

इस साम्प्रदायिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं आर्थिक उथल-पुथल के युग में साहित्य-निर्माण का गुरुतर दायित्व विशेषतः चारणों, भाटों एवं पेशेवर कवियों पर आ पड़ा। राजाओं में वीरता का भाव जागृत करने के लिए जहाँ इन कवियों ने वीर-रस की रचनाएँ कीं, वहीं शान्ति के दिनों में उनके मनोरंजनार्थ श्रृंगार-परक साहित्य की भी रचना की। इस युग का साहित्य राष्ट्रीय साहित्य तो नहीं बन सका, इतना अवश्य हुआ कि उस समय उसने दरबारी सम्मान की रक्षा की और आज के लिए उस समय की जानकारी का साधन छोड़ गया।

इस काल का साहित्य जिन अलग-अलग प्रवृत्तियों एवं धाराओं का प्रतिनिधित्व करता है, उसे स्पष्ट करने के लिए उसका निम्नलिखित विभाजन हो सकता है :—

(१) अपभ्रंश काव्य, (२) देश-भाषा काव्य।

१. अपभ्रंश काव्य—इसे भी सुविधा की दृष्टि से दो भागों में बाँट सकते हैं :—

(क) सिद्ध-साहित्य, (ख) जैन-साहित्य।

(क) सिद्ध-साहित्य—इस साहित्य की परम्परा ८वीं शती से १२वीं शती तक सतत बनी रही। इस समय महायान-शाखा के सहजयानी उपशाखा के कई सिद्धों की बानियाँ प्राप्त हैं, जिनकी भाषा में अपभ्रंश का उत्तरकालीन और पश्चिम एवं पूर्वी हिन्दी का पूर्वकालीन रूप प्राप्त होता है। सिद्ध सरहपा, मीनपा, कृष्णपा, कंबलीपा और भूसुकपा आदि की बानियाँ इस साहित्य का प्रतिनिधित्व करती हैं। इन बानियों में सहजयान की साम्प्रदायिक एवं आध्यात्मिक मान्यताओं का भी परिचय मिलता है, सरहपा का 'दोहाकोष' प्रकाशित है।

(ख) जैन-साहित्य—अर्द्धमागधी प्राकृत का ही विकसित रूप परवर्ती जैन अपभ्रंश साहित्य में भाषा के माध्यम के रूप में स्वीकृत था। अपभ्रंश का यह साहित्य सातवीं शती से ही मिलने लगता है। आचार्य देवसेन के

'श्रावकाचार' (सं० ६८० वि०) से ही इस साहित्य का प्रारम्भ माना जाता है। तत्पश्चात् इस परम्परा में अनेक कवि हुए, जिनमें महाकवि धवल, स्वयंभू, पुष्पदन्त, धनपाल और चंदमुनि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य कवि भी उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने अपनी एवं कुछ अन्य कवियों की रचनाओं का संग्रह कर उस समय के साहित्य की सामग्री हमें प्रदान की है। जैनाचार्य हेमचन्द्र (सं० ११५०-११९९) कृत 'सिद्ध-हेमचन्द्र-शब्दानुशासन', सोमप्रभ सूरिकृत 'कुमारपाल-प्रतिबोध' और जैनाचार्य मेरुतुंगकृत 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' आदि ऐसी ही रचनायें हैं। इनमें कुछ दोहे ऐसे भी हैं, जिनकी भाषा हिन्दी के प्रारम्भिक रूप से दूर नहीं है, यथा :—

भल्ला हुआ जु मारिआ, बहिणि म्हारा कंत।
लज्जेजंतु वयंसिअहु, जइ भग्गा घर एंतु॥
जा मति पच्छइ संपजइ, सा मति पहिली होइ।
मुंज भणइ मृणालवइ, विघन न बेढइ कोइ॥ आदि॥

इन रचनाओं में कई प्रकार के छन्द प्रयुक्त हैं; कुछ दोहा छन्द में हैं और कुछ पद्धड़िया (पद्धटिका—१६ मात्राओं का एक छन्द) बन्ध में। वर्ण्य-विषय की दृष्टि से—कुछ में धार्मिक उपदेश हैं, कुछ में वीर-रस की प्रधानता है, कुछ चरितात्मक हैं और कुछ शृंगारप्रधान हैं। अधिकांश रचनाएँ जैन एवं बौद्ध मतावलम्बी महात्माओं अथवा कवियों द्वारा रचित हैं। कुछ ऐसी भी रचनाएँ हैं जो इन दोनों सम्प्रदायों से सम्बन्ध न रखने वाले व्यक्तियों की हैं। इस प्रसंग में अद्दहमण के सन्देश-रासक का उल्लेख कर देना आवश्यक है।

२. देश-भाषा काव्य—इस युग के देश-भाषा काव्य में निम्नलिखित प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं :—

(क) प्रबन्ध-काव्य (रासो काव्य आदि), (ख) स्फुट काव्य (वीर, शृंगार एवं भक्तिसम्बन्धी रचनाएँ)।

(क) **प्रबन्ध-काव्य**—प्रबन्ध-काव्य के अन्तर्गत 'खुमान रासो', 'बीसलदेव रासो', 'पृथ्वीराज रासो' और 'हम्मीर रासो' आदि का समावेश होता है। इनमें से अधिकांश श्रृंगार और वीर-रस-प्रधान हैं। इनमें तत्तद् कवियों ने अपने आश्रयदाताओं का खूब बढ़ा-चढ़ा कर यशोगान किया है। इनके कथानकों की प्रामाणिकता, इनकी रचना-तिथि और भाषा आदि सभी कुछ संदिग्ध हैं। इतना अवश्य है कि इनमें युद्धों का बड़ा सजीव वर्णन मिलता है। इनकी भाषा संक्रमणकालीन होने के कारण मिश्रित एवं व्याकरण की दृष्टि से अव्यवस्थित है।

'खुमान रासो' का रचयिता दलपति विजय नामक एक कवि बताया जाता है। यह रचना सभी प्रकार से संदिग्ध है। इसमें चित्तौड़नरेश खुमान द्वितीय (सं० ८७०–९००) की यशगाथा है। 'बीसलदेव रासो' के रचयिता नरपति नाल्ह विग्रहराज चतुर्थ (बीसलदेव) के राजकवि थे। इनका रचना-काल ई० की १२वीं शती के आस-पास माना जाता है। इस काव्य में भोज की कन्या राजमती और बीसलदेव के प्रेम का वर्णन है। यह श्रृंगार-प्रधान काव्य है। यही स्थिति 'जयचन्द्र-प्रकाश', 'जयचन्द्र-चन्द्रिका' तथा अन्य प्रबन्ध-काव्यों की भी है। यहाँ सर्वाधिक उल्लेखनीय रासो ग्रंथ 'पृथ्वीराज रासो' ही है।

'पृथ्वीराज रासो' पृथ्वीराज के मित्र और राजकवि ब्रह्मभट्ट चन्दवरदाई की एक अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है। इसे हिन्दी का प्रथम महाकाव्य माना जाता है। यद्यपि उपरोक्त बातें इस रचना के सम्बन्ध में भी कही जा सकती हैं तथापि अपने विशेष गुणों के कारण यह रासो विद्वानों द्वारा अधिक आदृत हुआ है। यह ६९ 'समयों' में विभाजित एक अत्यन्त विशालकाय रचना है, जिसमें उस समय तक के सभी प्रचलित छन्दों और अलंकारों का प्रयोग किया गया है। इसमें पृथ्वीराज के युद्धों और विवाहों का बड़ा ही विशद वर्णन है। भाषा-कथानक, रचना-काल और कवि के विषय में इस रचना की भी प्रामाणिकता विवादास्पद है।

(ख) स्फुट काव्य—स्फुट रचनाओं में आल्हखण्ड, डिंगल की रचनाएँ, विद्यापति-पदावली, खुसरो की रचनाएँ और गोरखबानी आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। 'आल्हखण्ड' का प्रचार बहुत हुआ है। इसको 'परमाल रासो' भी कहते हैं। बीकानेर के राजा श्री पृथ्वीराज की डिंगल रचना 'वेलिक्रिसन-रुक्मिणी री' १६वीं शती की रचना है। अमीर खुसरो (ईसवी, १३वीं शती) ने खड़ी बोली में पहलियों और मुकरियों की रचना की थी। विद्यापति का परिचय आगे दिया गया है। गुरु गोरखनाथ योगी-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक थे। इन्होंने साखियों (दोहों) और बानियों (पदों) की रचना की जिनका संग्रह 'गोरखबानी' के नाम से प्रकाशित हुआ है।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, हिन्दी का आदिकाल सामान्यतया लड़ाई-झगड़ों का युग था। चौदहवीं शती का अंत आते-आते राजपूतों की

भक्तिकाल
(पूर्व मध्यकाल)
[सं० १३७५—१७०० वि०]

वीरता और राजकीय विभूतियों का भी पर्याप्त अंश में अन्त आ गया। इसका कारण स्वयं राजागण ही थे। राजनीतिक वातावरण में अब शांति आ गई थी और विशेषतः उत्तर भारत महदंश में इस्लामी झंडे के नीचे आ गया था। कारण चाहे जो भी हो पर भारत का वातावरण वीरगाथा-काल में ही भक्ति-आंदोलनों के अधिक अनुकूल हो गया था। हिन्दू संस्कृति के आकाश में एक के बाद एक और कितनी वार तो एक साथ ही कई नक्षत्रों का उदय हुआ, जिन्होंने राजनीति की अस्थिरता के फलस्वरूप विरक्त जनता को बड़ी आसानी से अपनी ओर आर्कषित कर लिया। शंकराचार्य ने एक ऐसा दीपक जला दिया था, जिसे रामानुजाचार्य, रामानन्द, वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु, निम्बार्काचार्य तथा अनेक अन्य धर्माचार्यों ने अपने-अपने ढंग से तैल-दान दिया और उसे विविध दिशाओं से सजा-सँवार दिया। हिन्दी के कवि-समुदाय ने भी इससे प्रकाश ग्रहण किया और देश का कोना-कोना भक्ति-पदों के गीतों से गूँज उठा।

यह घटा लगभग ४०० वर्ष तक साहित्याकाश को घेरे रही और अपने काव्य-जल से जनता के मानस को शीतलता प्रदान करती रही। जिन भिन्न-भिन्न रंग-रूपों और दिशाओं से यह सरिता उमड़ी थी, मुख्यतः उनका वर्गीकरण चार धाराओं में किया गया है :—

(क) निर्गुण धारा, (ख) सगुण धारा।

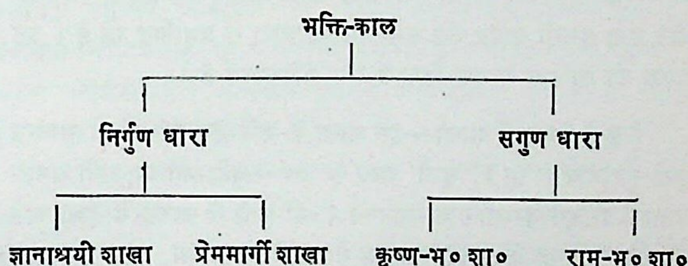
निर्गुण धारा में दो उपधारायें हैं—

(१) ज्ञानाश्रयी शाखा, (२) प्रेममार्गी शाखा।

इसी प्रकार सगुण धारा में भी दो शाखायें हैं—

(३) राम-भक्ति शाखा, (४) कृष्ण-भक्ति शाखा।

इसकी तालिका इस प्रकार हो सकती है—



(१) **ज्ञानाश्रयी शाखा**—सन्त कबीर के उदय के पूर्व ही समाज में एक ऐसी पृष्ठभूमि बन रही थी, जो कोई नई करवट बदलने की स्थिति में थी। आवश्यकता इस बात की थी कि उसे कोई मार्गदर्शक मिल जाय। कबीरदास ने इस कमी को पूरा कर दिया। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि इस वातावरण के सृजन में नाथपंथी योगियों, बौद्ध-सिद्धों, जैन-मुनियों एवं अनेक स्वतन्त्र चेता साधु-संन्यासियों का बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान था।

इस युग की परम आवश्यक माँगें निम्नलिखित थीं—

१. हिन्दू-मुसलमानों में ऐक्य या निकटता की आवश्यकता।

२. जाति-पाँति के भेद-भाव को मिटाने की आवश्यकता।
३. विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों के आडम्बरों को समाप्त करने की आवश्यकता। और,
४. जनता को सहज एवं काय-क्लेश-विहीन साधना के लिए मार्ग-दर्शन की आवश्यकता।

कहने की आवश्यकता नहीं कि कबीरदास ने युग की इस पुकार को समझकर उसको पूरा करने का प्रयत्न किया। उन्होंने अफीम के नशे में सोये हुए समाज को अपनी फटकारों द्वारा जागृत किया। कबीर ने स्वयं जो कुछ किया वही कम नहीं था, इसके उपरान्त उन्होंने हिन्दी को सन्त-कवियों की एक बहुत बड़ी परम्परा दी जो आज भी जीवित है। गुरु नानक, धर्मदास, दादूदयाल, सुन्दरदास, मलूकदास, बुल्ला साहब, पलटूदास और सन्त तुलसी साहब जैसे सन्त इसी परम्परा से प्रभावित रहे हैं। इस शाखा का साहित्य अत्यन्त विशाल और वैविध्यपूर्ण है।

(२) **प्रेममार्गी शाखा**—इस शाखा के अधिकांश कवियों का सम्बन्ध सूफी-सम्प्रदाय से था। 'सूफी' शब्द का अर्थ—बुद्धिमान या ज्ञानी समझा जाता है। इस सम्प्रदाय का आरम्भ १०वीं शती में फारस में हुआ था। कट्टर इस्लामियत से इनके मन का मेल नहीं बैठता था, अतः मुसलमान होते हुए भी इन्हें मुहम्मद साहब के अनुयायियों द्वारा बहुत कष्ट भोगना पड़ता था। इनके आचार-विचार हिन्दू-धर्म के बहुत निकट थे। भारत में आगमन के बाद इन लोगों ने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काम यह किया कि आक्रामक जाति अर्थात् मुसलमानों और आक्रान्त हिन्दुओं के बीच मेल-जोल बढ़ाने का पर्याप्त प्रयत्न किया। इनके आचार-विचार कुछ इस प्रकार के थे कि ये लोग दोनों वर्गों में आसानी से घुल-मिल सकते थे। मेल-मिलाप बढ़ाने के लिए इन लोगों ने हिन्दी में यथेष्ट साहित्य-रचना की।

इन कवियों की प्रेम-गाथाएँ फारसी की मसनवी-शैली पर रचित हैं। कथानक लोक-प्रचलित आख्यानों और प्रेम-कथाओं से लिये गये हैं। भाषा

अवधी है। छन्दों में चौपाई और दोहा इन्हें विशेष अनुकूल प्रतीत हुए हैं। प्रेम-कथाओं के माध्यम से ये लोग अपने धर्म का सन्देश भी दे दिया करते थे। ये साम्प्रदायिक या सैद्धान्तिक खण्डन-मण्डन में नहीं पड़ते थे। इनमें कट्टरता और उग्रवादिता नहीं थी। इनका साहित्य विशेषतया प्रबन्धों में ही रचित और लोकप्रिय हुआ है।

इस शाखा के कवियों में मलिकमुहम्मद जायसी सर्वाधिक प्रसिद्ध हुए। उनके 'पद्मावत' की प्रशंसा कोई भी सहृदय पाठक कर सकता है। जायसी की ही सूचना से ज्ञात हुआ था कि पद्मावत की रचना के पूर्व भी कई प्रबन्ध-काव्यों की रचना हो चुकी थी, यथा, कुतुबनकृत 'मृगावती', मंझनकृत 'मधुमालती' तथा अन्य कवियों की 'स्वप्नावती', 'मुग्धावती', और 'प्रेमावती' आदि। जायसी के परवर्ती कवियों में 'चित्रावली' के रचयिता उसमान, 'ज्ञानद्वीप' के रचयिता शेख नबी, 'हंस-जवाहिर' के रचयिता कासिमशाह तथा 'अनुराग बाँसुरी' के रचयिता नूर मुहम्मद विशेष उल्लेखनीय हैं। अधिकांश रचनायें प्रकाशित हो चुकीं या हो रही हैं। 'मधुमालती' भी प्रकाशित है।

(३) **रामभक्ति शाखा**—शंकराचार्य ने बढ़ते हुए बौद्ध-धर्म के प्रवाह को दूर तो कर दिया लेकिन सामान्य जनता को कोई ऐसा संबल वे न दे सके, जिसे वह सर्वस्व समर्पण करके भी पाने की आशा रखती। विशेषतः उनका ज्ञान संन्यासियों या पंडितों के लिए ही ग्राह्य था, जन-साधारण के लिए नहीं। इस कमी की ओर स्वामी रामानुजाचार्य का ध्यान गया। उस समय दक्षिण भारत से आलवार वैष्णवों की प्रेमा-भक्ति का प्रवाह भी उत्तर की ओर बढ़ रहा था। स्वामी रामानुज के श्री संप्रदाय ने विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त के माध्यम से जनता के लिए विष्णु और लक्ष्मी के रूप में एक आराध्य देव और आराध्य देवी की प्रतिष्ठा कर दी। यह नारायणी-उपासना भक्तिपरक और आत्मोत्सर्ग की भावना से पूर्ण थीं।

श्री रामानुज की शिष्य-परम्परा की पाँचवीं पीढ़ी में स्वामी रामानन्द हुए थे। काशी में स्थायी आश्रम बनाकर रहने वाले श्री राघवानन्द के ये

२. जाति-पाँति के भेद-भाव को मिटाने की आवश्यकता।
३. विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों के आडम्बरों को समाप्त करने की आवश्यकता। और,
४. जनता को सहज एवं काय-क्लेश-विहीन साधना के लिए मार्ग-दर्शन की आवश्यकता।

कहने की आवश्यकता नहीं कि कबीरदास ने युग की इस पुकार को समझकर उसको पूरा करने का प्रयत्न किया। उन्होंने अफीम के नशे में सोये हुए समाज को अपनी फटकारों द्वारा जागृत किया। कबीर ने स्वयं जो कुछ किया वही कम नहीं था, इसके उपरान्त उन्होंने हिन्दी को सन्त-कवियों की एक बहुत बड़ी परम्परा दी जो आज भी जीवित है। गुरु नानक, धर्मदास, दादूदयाल, सुन्दरदास, मलूकदास, बुल्ला साहब, पलटूदास और सन्त तुलसी साहब जैसे सन्त इसी परम्परा से प्रभावित रहे हैं। इस शाखा का साहित्य अत्यन्त विशाल और वैविध्यपूर्ण है।

(२) **प्रेममार्गी शाखा**—इस शाखा के अधिकांश कवियों का सम्बन्ध सूफी-सम्प्रदाय से था। 'सूफी' शब्द का अर्थ—बुद्धिमान या ज्ञानी समझा जाता है। इस सम्प्रदाय का आरम्भ १०वीं शती में फारस में हुआ था। कट्टर इस्लामियत से इनके मन का मेल नहीं बैठता था, अतः मुसलमान होते हुए भी इन्हें मुहम्मद साहब के अनुयायियों द्वारा बहुत कष्ट भोगना पड़ता था। इनके आचार-विचार हिन्दू-धर्म के बहुत निकट थे। भारत में आगमन के बाद इन लोगों ने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काम यह किया कि आक्रामक जाति अर्थात् मुसलमानों और आक्रान्त हिन्दुओं के बीच मेल-जोल बढ़ाने का पर्याप्त प्रयत्न किया। इनके आचार-विचार कुछ इस प्रकार के थे कि ये लोग दोनों वर्गों में आसानी से घुल-मिल सकते थे। मेल-मिलाप बढ़ाने के लिए इन लोगों ने हिन्दी में यथेष्ट साहित्य-रचना की।

इन कवियों की प्रेम-गाथाएँ फारसी की मसनवी-शैली पर रचित हैं। कथानक लोक-प्रचलित आख्यानों और प्रेम-कथाओं से लिये गये हैं। भाषा

अवधी है। छन्दों में चौपाई और दोहा इन्हें विशेष अनुकूल प्रतीत हुए हैं। प्रेम-कथाओं के माध्यम से ये लोग अपने धर्म का सन्देश भी दे दिया करते थे। ये साम्प्रदायिक या सैद्धान्तिक खण्डन-मण्डन में नहीं पड़ते थे। इनमें कट्टरता और उग्रवादिता नहीं थी। इनका साहित्य विशेषतया प्रबन्धों में ही रचित और लोकप्रिय हुआ है।

इस शाखा के कवियों में मलिकमुहम्मद जायसी सर्वाधिक प्रसिद्ध हुए। उनके 'पद्मावत' की प्रशंसा कोई भी सहृदय पाठक कर सकता है। जायसी की ही सूचना से ज्ञात हुआ था कि पद्मावत की रचना के पूर्व भी कई प्रबन्ध-काव्यों की रचना हो चुकी थी, यथा, कुतुबनकृत 'मृगावती', मंझनकृत 'मधुमालती' तथा अन्य कवियों की 'स्वप्नावती', 'मुग्धावती', और 'प्रेमावती' आदि। जायसी के परवर्ती कवियों में 'चित्रावली' के रचयिता उसमान, 'ज्ञानद्वीप' के रचयिता शेख नबी, 'हंस-जवाहिर' के रचयिता कासिमशाह तथा 'अनुराग बाँसुरी' के रचयिता नूर मुहम्मद विशेष उल्लेखनीय हैं। अधिकांश रचनायें प्रकाशित हो चुकीं या हो रही हैं। 'मधुमालती' भी प्रकाशित है।

(३) रामभक्ति शाखा—शंकराचार्य ने बढ़ते हुए बौद्ध-धर्म के प्रवाह को दूर तो कर दिया लेकिन सामान्य जनता को कोई ऐसा संबल वे न दे सके, जिसे वह सर्वस्व समर्पण करके भी पाने की आशा रखती। विशेषतः उनका ज्ञान संन्यासियों या पंडितों के लिए ही ग्राह्य था, जन-साधारण के लिए नहीं। इस कमी की ओर स्वामी रामानुजाचार्य का ध्यान गया। उस समय दक्षिण भारत से आलवार वैष्णवों की प्रेमा-भक्ति का प्रवाह भी उत्तर की ओर बढ़ रहा था। स्वामी रामानुज के श्री संप्रदाय ने विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त के माध्यम से जनता के लिए विष्णु और लक्ष्मी के रूप में एक आराध्य देव और आराध्य देवी की प्रतिष्ठा कर दी। यह नारायणी-उपासना भक्तिपरक और आत्मोत्सर्ग की भावना से पूर्ण थीं।

श्री रामानुज की शिष्य-परम्परा की पाँचवीं पीढ़ी में स्वामी रामानन्द हुए थे। काशी में स्थायी आश्रम बनाकर रहने वाले श्री राघवानन्द के ये

शिष्य थे। श्री रामानन्द के विचार बड़े ही प्रगतिशील और अवसरोचित थे। उन्होंने सीता-राम को अपना आराध्य बनाया, संन्यासियों के लिए वैरागी-सम्प्रदाय चलाया और राम की उपासना सगुण और निर्गुण—दोनों प्रकार से प्रतिष्ठित की। सगुणोपासक अपनी सनातनी परम्परा स्वीकार करते हुए साधना-रत हुए और निर्गुणोपासकों के लिए उन्होंने नवीन आचार-विचार-संहिता नियत कर दी। इन्हीं रामानन्द के निर्गुणवादी कबीर भी शिष्य थे और सगुणोपासक नरहर्यानन्द भी शिष्य थे, जिन्हें तुलसीदास का गुरु माना जाता है। इस प्रकार स्वामी रामानन्द का हिन्दी का निर्गुण और सगुण धारा पर समान रूप से प्रभाव है। सभी प्रकार के भेद-भावों का बन्धन तोड़कर इन्होंने हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण-शूद्र और स्त्री-पुरुष सबको अपना शिष्य बनाया और धर्म के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी पद्धति का आरम्भ किया।

रामभक्ति शाखा में सर्वाधिक प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण कवि हैं—गोस्वामी तुलसीदासजी। तुलसीदास अत्यन्त विनयशील और सदाचारी भक्त थे। उन्होंने सभी बातों में सामंजस्यवादी दृष्टिकोण अपनाया था। उन्हें जीवन के विविध क्षेत्रों का बड़ा ही ठोस ज्ञान था। उनके रामचरित-मानस में ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, शैव-वैष्णव, जाति-पाँति, लौकिक-अलौकिक, व्यक्तिगत-सामाजिक आदि सभी समस्याओं का सामंजस्य-पूर्ण समाधान मिलता है। उन्होंने निर्गुण और सगुण मत की गुत्थियों को भी सुलझाने का प्रयत्न किया है। उनकी दृष्टि सदैव लोक-कल्याण की रही है। उनकी रचनायें हिन्दुत्व की सन्देश-वाहिकायें हैं।

रामभक्ति-शाखा के अन्य कवियों में 'भक्तमाल' के रचयिता श्री नाभादासजी विशेष उल्लेखनीय हैं। ये तुलसीदास के समकालींन थे। भक्तमाल की टीकाओं में प्रियादास की टीका (रचनाकाल सं० १७६९) बड़ी विशद है। प्रियादास एक प्रसिद्ध रामभक्त कवि थे। श्री प्राणचन्द्र चौहान ने और हृदयराम ने रामायण के आधार पर एक महा नाटक की

रचना की थी। अयोध्या के महात्मा युगलानन्दशरण रामभक्ति शाखा की माधुर्य-भक्ति शाखा के प्रवर्तक थे। यह परम्परा अभी तक बनी हुई है।

(४) कृष्णभक्ति शाखा—हिन्दी की सगुण भक्तिपरक रचनाओं में कृष्णभक्ति शाखा के कवियों की देन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कृष्ण-काव्य में दो प्रकार की परम्परायें स्पष्ट परिलक्षित होती हैं :—

१. श्री वल्लभाचार्य की उपासना-पद्धति।
२. जयदेव और विद्यापति आदि की गीत-काव्य पद्धति। इन दोनों में भावपक्ष की दृष्टि से श्री वल्लभाचार्य का प्रभाव अत्यन्त व्यापक है और कलापक्ष में गीत-गोविन्द का प्रभाव अत्यधिक है।

श्री वल्लभाचार्य का जन्म संवत् १५३५ के आसपास तैलंग ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वैष्णव-धर्म का जो आन्दोलन देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैल गया था, वे उसके प्रवर्तकों में से एक थे। उन्होंने कृष्ण की माधुर्य-भक्ति का खूब प्रचार किया। उनके 'शुद्धाद्वैतवादी' सम्प्रदाय और 'पुष्टि मत' में कृष्ण-भक्ति और विशेषत: बाल कृष्ण-भक्ति विशेष रूप से आदृत है। इस मत का प्रचार देश में दूर-दूर तक हुआ था। उनके पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ ने हिन्दी के आठ प्रमुख कवियों को चुनकर 'अष्ट-छाप' की स्थापना की थी। अष्ट-छाप के कवियों ने कृष्ण की बाललीला, युवावस्था की प्रेम-लीला और गोपियों के विरह को अपने काव्य का विषय बनाया। इन आठ कवियों की नामावली इस प्रकार है—सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, छीत स्वामी, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास। इनमें सूरदास सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। अष्टछाप के अतिरिक्त वल्लभ-सम्प्रदाय ने अन्य बहुत-से कवि-रत्न हिन्दी को प्रदान किये। सूरदास की रचनाओं में वैविध्य पर्याप्त है, फिर भी उसके विषय संक्षिप्त हैं।

सूरदास के बाद इस परम्परा के कवियों में नन्ददास का नाम उल्लेखनीय है। इनके विषय में कहावत प्रसिद्ध है "और कवि गढ़िया, नन्ददास

जड़िया।" कुछ लोग इन्हें तुलसीदास का भाई मानते हैं। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की है, जिनमें 'रास-पंचाध्यायी' बहुत प्रसिद्ध है। इनकी 'अनेकार्थ मंजरी' और 'भ्रमर-गीत' उच्चकोटि की रचनायें हैं। परमानन्द-दास एक उच्चकोटि के कवि थे। ये बाल-ब्रह्मचारी तथा प्रसिद्ध भक्त थे। इनका 'परमानन्द-सागर' प्रकाशित हो चुका है। कृष्णदास गुजरात के एक शूद्र बताये जाते हैं। इनका 'भ्रमरगीत' एक उल्लेखनीय रचना है। इसी प्रकार अष्टछाप के अन्य कवि भी बड़े अच्छे कवि थे। इनके अतिरिक्त राधावल्लभी-सम्प्रदाय के श्री हित हरिवंश और श्री हित वृन्दावनदासजी, गदाधर भट्ट तथा हरिराम व्यास आदि एवं निम्बार्कसम्प्रदाय के स्वामी हरिदास आदि बड़े ही-सिद्ध हस्त कवि थे। राधावल्लभी-सम्प्रदाय, टट्टी-सम्प्रदाय, गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदाय और निम्बार्क-सम्प्रदाय में अनेक भक्त-कवि हुए, जिन्होंने राधाकृष्ण की लीला का गान किया है। इनके अतिरिक्त मीराबाई, रसखानि, घनानन्द आदि भी उच्चकोटि के कृष्ण-कवि थे। ये तीनों कवि तो हिन्दी में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

इन भक्त-कवियों के अतिरिक्त रहीम, गंग, नरहरि 'वन्दीजन', कवि सुन्दर तथा लालचन्द आदि कवियों ने स्वतन्त्र रूप से साहित्य-रचना की। इस युग के जैन-कवि बनारसीदास अपनी मधुर रचनाओं के लिए प्रसिद्ध हैं। सेनापति, नरोत्तमदास और महाकवि केशवदास भी इसी युग की सीमा में आते हैं।

सामान्य-परिचय—यह काल हिन्दी-साहित्य के शृङ्गार का काल है। आगे चलकर कृष्ण-काव्य का बड़ा व्यापक प्रचार हुआ। भक्त-कवियों ने राधा और कृष्ण के प्रेम-सम्बन्धों पर बड़ी ही विशद रचनायें प्रस्तुत की हैं। ये रचनायें जब तक एकान्तवासी भक्तों के हाथ में रहीं, कृष्ण-काव्य का मर्यादित रूप बना रहा। इतना अवश्य था कि अलंकरण की प्रवृत्ति उनमें भी आ गई थी और भावपक्ष की अपेक्षा

रीतिकाल
(उत्तर मध्यकाल)
[सं० १७००–१९०० वि०]

कलापक्ष का मोह उनमें भी बढ़ चला था, लेकिन दरबारी कवियों ने तो राधा-कृष्ण का स्तर इतना गिरा दिया कि वे एक सामान्य नायक-नायिका के अतिरिक्त कुछ नहीं रह गये। इस तथ्य से उस समय के 'दास', 'ठाकुर' आदि कवि भी अवगत थे।

भक्त-कवियों ने प्रचुर मात्रा में लक्ष्य-ग्रन्थों की रचना कर दी थी, अतः दरबारी कवियों के लिए लक्षण-ग्रन्थों की रचना के निमित्त उनकी परिस्थितियों को देखते हुएं, मोह होना अस्वाभाविक नहीं है। दरबारों में राज-कवियों का होना उस युग का एक फैशन बन गया था। वह कवि भी क्या जिसकी अनूठी उक्तियों पर सारी सभा 'वाह-वाह' करते हुए झूम न उठे। दरबारियों का चमत्कार-प्रेम ही सम्भवतः कवियों को पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रेरणा देता था। यह प्रदर्शन ही कवियों की प्रतिष्ठा और उनके परिवार के भरण-पोषण का साधन था। मुगल-शासन में हिन्दू राजा एक प्रकार से शान्तिपूर्ण ही जीवन व्यतीत कर रहे थे, अतः कविता उनके आमोद-प्रमोद के साधनों में से एक थी। यही कारण है कि रीति-कालीन साहित्य में केवल शिक्षित और अभिजातवर्गीय समाज की तृप्ति की ही सामग्री मिलती है। ये रचनाएँ जनसामान्य के लिए नहीं थीं।

इस युग के अधिकाश कवि संस्कृत के पण्डित थे। उन लोगों की परिस्थिति उन्हें बाध्य करती थी कि संस्कृत के काव्य-शास्त्र का वे गहन अध्ययन करें। उसी का एक परिणाम यह भी था कि उनमें कवि की अपेक्षा आचार्य बनने का मोह अधिक हो गया था। हर बड़ा कवि रस-रसांग, छन्द, अलंकार, शब्दशक्ति, रीति, गुण और काव्य-शास्त्र के अन्य विषयों से सम्बद्ध लक्षण-ग्रन्थ की रचना अनिवार्य रूप से करता ही था। प्रबन्ध-काव्य लिखने की ओर कवियों का ध्यान नहीं था। अपने आश्रय-दाताओं की प्रशंसा या श्रृङ्गार सम्बन्धी रचनाओं में ही कविता के सभी विषय सिमट गये थे। प्रकृति-वर्णन एवं नीति-सम्बन्धी रचनायें भी अधिक मात्रा में नहीं हो सकीं। नारी-अवयवों के सौन्दर्य-वर्णन में कवियों की

विशेष रुचि थी। ये कवि जीवन की अनेकरूपता का चित्रण अपनी रचनाओं में नहीं कर सके हैं।

साहित्य-रचना—यद्यपि रीतिकाल का आरम्भ सं० १७०० वि० से माना जाता है लेकिन उसका प्रारम्भ तो सं० १६५० के आस-पास से ही हो चुका था। आचार्य केशवदास, इसके पुरस्कर्त्ता माने जा सकते हैं। उनकी 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' नामक रचनायें क्रमशः अलंकार और रस-विवेचन से सम्बद्ध कृतियाँ हैं। इनकी रचना का उद्देश्य ही कविशिक्षा है। अधिकांश आलोचकों की मान्यता है कि केशव अलंकारवादी आचार्य थे, जब कि रीतिकालीन परम्परा रसवाद के सिद्धान्तों को ग्रहण कर आगे बढ़ी थी। केशव से भी पूर्व मोहन, कृपाराम, करणेश और बलभद्र आदि ने रीतिविषयक लक्षण-ग्रन्थों की रचना की थी।

इस युग के मुख्य कवियों में कुछ का परिचय संक्षेप में यहाँ दिया जा रहा है—

(१) मतिराम—ये चिन्तामणि और भूषण के भाई माने जाते हैं। इनका जन्मकाल सं० १६७४ के आस-पास बताया जाता है। इनकी रचनाओं में 'ललित-ललाम', 'छन्दसार', 'साहित्यसार', 'लक्ष्मण-शृंगार' और 'मतिराम-सतसई' विशेष उल्लेखनीय और प्रसिद्ध हैं।

(२) चिन्तामणि—ये मतिराम और भूषण के भाई तथा कानपुर के पास तिकवाँपुर के कान्यकुब्ज तिवारी ब्राह्मण थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इन्हें ही रीतिकाल का प्रवर्त्तक मानते हैं। इनका जन्मकाल सं० १६६६ के आस-पास बताया जाता है। 'काव्य-विवेक', 'कविकुल-कल्पतरु' और 'काव्य-प्रकाश'—ये तीन इनकी प्रसिद्ध रचनायें हैं।

(३) महाराज जसवन्तसिंह—ये मेवाड़ के महाराज राजसिंह के पुत्र तथा उच्चकोटि के कवि थे। इनकी कई रचनायें बताई जाती हैं जिनमें अलंकार का लक्षण-ग्रन्थ 'भाषा-भूषण' बहुत ही प्रसिद्ध कृति है।

(४) भिखारीदास (दास)—रीतिकालीन आचार्यों में एक अति प्रसिद्ध आचार्य और कवि माने जाते हैं। ये जाति के कायस्थ थे। इनका

'काव्य-निर्णय' समीक्षकों द्वारा बहु-प्रशंसित कृति है। इसके अतिरिक्त 'छन्दार्णव-पिंगल' और 'रस-सारांश' आदि अन्य एक दर्जन पुस्तकों के भी ये रचयिता थे।

(५) **कुलपति मिश्र**—ये महाकवि बिहारी के भाँजे थे। इनका मम्मट के काव्य-प्रकाश के आधार पर लिखित 'रस-रहस्य' का आलोचकों की दृष्टि में बड़ा ऊँचा स्थान है। इसके अतिरिक्त अन्य ६ ग्रन्थों के भी ये रचयिता हैं।

(६) **देव**—ये इटावा (उत्तरप्रदेश) के निवासी और कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। देव कई राज-दरबारों में रहे और उन्होंने अनेक पुस्तकों की रचना की। इनके ग्रन्थों की संख्या ५२ बताई जाती है। जिनमें 'भाव-विलास', 'कुशल-विलास', 'जाति-विलास' और 'शब्दरसायन' आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। बहुधा देव और बिहारी की परस्पर तुलना की जाती है। दोनों एक ही कोटि के कवि माने जाते हैं। कवि के अतिरिक्त देव का स्थान आचार्यों में भी महत्त्वपूर्ण है। इनका पूरा नाम देवदत्त 'देव' है।

(७) **पद्माकर**—ये बाँदा (उ० प्र०) के निवासी और तैलंग ब्राह्मण थे। इनका जन्मकाल सं० १८१० और मृत्युकाल १८९० वि० है। इन्हें रीतिकाल का अन्तिम कवि माना जाता है। 'जगद्विनोद', 'हिम्मत बहादुर-विरुदावली', 'पद्माभरण' और 'रामरसायन' आदि ९ ग्रन्थों की रचना इन्होंने की थी।

इनके अतिरिक्त अन्य बहुत-से कवियों का योगदान रीति-साहित्य को प्राप्त हुआ है जिनकी विस्तृत या संक्षिप्त जानकारी स्थानाभाव के कारण देना कठिन है। बिहारी, केशव, सेनापति और भूषण के विषय में किंचित् विस्तार से 'कवि-परिचय' के प्रसंग में दिया गया है।

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने समग्र रीति-साहित्य का वर्गीकरण तीन कोटियों में किया है :—

(१) रीतिबद्ध काव्य, (२) रीतिमुक्त काव्य व (३) रीतिबद्ध-मुक्त काव्य।

(१) **रीतिबद्ध काव्यधारा**—इसमें भी दो कोटियाँ हैं—(अ) विशुद्ध आचार्य, (ब) आचार्य और कवि दोनों। विशुद्ध आचार्य उन्हें माना जा सकता है, जिन्होंने विशेषतः केवल लक्षण-ग्रन्थों की ही रचना की थी, जैसे महाराजा जसवन्तसिंह और कुलपति मिश्र आदि। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि रीतिकाल में विशुद्ध आचार्य सम्भवतः कोई नहीं है; क्योंकि इन सभी ने उदाहरणों के लिए स्वरचित रचनाओं का उपयोग किया है।

आचार्य और कवि दोनों विभूतियों से विभूषित कवियों की संख्या सर्वाधिक है। इन कवियों ने लक्षण-ग्रन्थों की रचना के साथ ही स्वतन्त्र काव्य-रचना भी की है। इतना अवश्य है कि इनकी कविता का रस काव्य-शास्त्र के नियमों से पोषित है। ऐसे कवियों में केशवदास, मतिराम, चिंतामणि त्रिपाठी, मंडन मिश्र, सुखदेव मिश्र, कालीदास त्रिवेदी, नेवाज, देव, सूरति मिश्र, कवीन्द्र, श्रीपति कृष्ण कवि, दास (भिखारीदास), भूपति, तोष, सोमनाथ, रसलीन (सैयद गुलाम नबी), रघुनाथ, दूलह, रूप साहि, बेनी बन्दीजन, बेनी प्रवीन और पद्माकर आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

(२) **रीतिमुक्त काव्य**—इस श्रेणी में वे रचनाएँ आती हैं जिनकी रचना रीतिकाल में हुई है, परन्तु जिनमें काव्य-शास्त्र के विषयों का शास्त्रीय विवेचन नहीं है। इतना ही नहीं बल्कि उनके विषय और रंग-ढंग भी भिन्न हैं। जैसे नीति-विषयक सूक्तियाँ या भक्तिपरक पद-रचना। इन कवियों में वृन्द, बैताल, महाराज विश्वनाथसिंह जू देव, भक्तवर नागरीदास और श्री अलबेली अलि आदि के नाम गिनाये जा सकते हैं।

(३) **रीतिबद्ध-मुक्त काव्य**—में उन रचनाओं की गणना की जा सकती है, जिनमें रीति के विषयों का पालन तो किया गया हो, जिनमें रस, अलंकार और नायिका-भेद आदि लक्षणों को ध्यान में रखा गया हो, परन्तु उनके लक्षण या उदाहरण न दिये गये हों। ऐसी रचनायें रीति-ग्रन्थों के लिए लक्ष्य-ग्रन्थ हो सकते हैं। इस श्रेणी की रचनाओं में महाकवि बिहारीकृत 'सतसई', छत्रसिंह कायस्थकृत 'विजयमुक्तावली', आलमकृत

'आलम-केलि', मुरलीधरकृत 'जंगनामा', लाल कविकृत 'छत्र-प्रकास' एवं घनानन्द, बोधा और रसखानि आदि की रचनायें विशेष उल्लेखनीय हैं।

रीतिकाल में केवल श्रृंगार की ही रचनायें नहीं हुईं, बल्कि हास्य और वीर-रस की रचनायें प्रस्तुत की गईं। वीर-रस के कवियों में भूषण, लाल और सूदन विशेष ख्यात हुए। इसी प्रकार हास्य-रस की रचनाओं के लिए रायबरेली जिले के बेनी बन्दीजन और लखनऊ के बेनी प्रवीन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

रीतिकाल का समग्र साहित्य ब्रजभाषा का साहित्य है। इस युग में ब्रजभाषा का परिष्कार बड़ी ही तीव्र गति से हुआ। कवियों ने इच्छानुसार भाषा में मिलावट और तोड़-मरोड़ भी खूब की। भाषा की अर्थ-व्यञ्जकता और शक्ति इस युग में खूब बढ़ी जिससे ब्रजभाषा में हर प्रकार के भावों को व्यक्त करने की अद्भुत क्षमता आ गई।

सामान्य-परिचय—विक्रम की उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में ही देश की राजनीतिक परिस्थितियों में बहुत परिवर्तन हो गया था। मुगल साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया था। मराठों, अँग्रेजों और सिक्खों ने अपने-अपने हाथ-पैर खूब फैला लिये थे। राजे और नवाब बहुत कुछ स्वतन्त्र हो गये थे और अपनी-अपनी सीमाओं में सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रता का अनुभव करने लगे थे। साम्राज्य का एकाधिपत्य समाप्त हो जाने और राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने के कारण बादशाहों की शक्ति पर्याप्त क्षीण हो गई थी; परिस्थितिवश वे अँग्रेजों के जाल में फँसते जा रहे थे।

आधुनिक काल
[सं० १९००.........वि०]

देश की जनता का एक नई जाति से पाला पड़ा था। ईसाई-धर्म का प्रचार तीव्र गति से हो रहा था। राज्य-परिवर्तन का वातावरण था। आवागमन और प्रकाशन आदि के नये-नये सुविधाजनक साधनों का उपयोग आरम्भ हो गया था। राज-दरबारों से कवियों का आश्रय छूट गया था, अब वे प्रजा की शरण में जाने को बाध्य थे। परन्तु सामान्य जनता की

परिस्थितियों में अँग्रेजों के आगमन से कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा था। पहले की अपेक्षा उसे कुछ राहत ही मिली थी।

स्वामी दयानन्द के आर्यसमाजी आन्दोलनों ने नई जागृति पैदा की। राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह ने काव्य के क्षेत्र में नये आदर्श प्रस्तुत किये। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र और उनके साथी कवियों ने परिस्थितियों की नई करवटों को पहचानने में विलम्ब नहीं किया। हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी का प्रश्न भी उठ खड़ा हुआ। अधिकारियों के उर्दू के व्यामोह ने हिन्दी कवियों और लेखकों को सतर्क कर दिया। कुछ दिनों अनिश्चित स्थिति बनी रही। खड़ी बोली ने गद्य में तो स्थान पाया पर काव्य के क्षेत्र में भारतेन्दु-युग तक वह व्रज भाषा का स्थान ग्रहण न कर सकी।

काव्यधारा—आधुनिक युग के काव्य-सर्जन को भाषा की दृष्टि से दो भागों में बाँटा जा सकता है—

(१) व्रजभाषा-काव्य, (२) खड़ी बोली का काव्य।

(१) व्रजभाषा-काव्य—रीतिकालीन व्रजभाषा-काव्य की परिपाटी विपरीत परिस्थितियों के बावजूद भी भारतेन्दु-युग तक चलती रही थी। भारतेन्दु के पूर्व इस युग में जिन लोगों ने यह परम्परा कायम रखी थी, उनमें सेवक कवि, ललित किशोरी, ललित माधुरी, राजा लक्ष्मणसिंह तथा लछिराम के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। सन् १८५७ के बाद काव्य का वह उल्लास जो रीतिकाल का विशेष लक्षण था समाप्त हो गया, लेकिन भक्ति की धारा ज्यों-की-त्यों बनी रही। देश की विषम परिस्थिति अवनति और जातीय दुर्गति की ओर कवियों का ध्यान गया और सामाजिक सुधार की उत्कण्ठा के स्वर उनकी रचनाओं में व्यक्त होने लगे।

(क) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की कविताओं तथा नाटच-रचनाओं में राष्ट्रीयता का स्वर सर्वाधिक मुखर है। प्राचीनता के साथ नवीनता का बड़ा ही मंजुल सामञ्जस्य उनके काव्य में दिखाई पड़ता है। धार्मिक सहिष्णुता की रक्षा करते हुए भी उन्होंने राष्ट्रीयता की ज्योति

जगाने में उल्लेखनीय प्रयास किया। उन्होंने स्वयं तो साहित्य-रचना प्रचुर मात्रा में की ही, साथ ही, कवियों के एक बड़े मण्डल का भी मार्गदर्शन किया। इन कवियों में पं० अम्बिकादत्त व्यास, नवनीतलाल चतुर्वेदी, बाबू राधाकृष्ण दास, पं० प्रतापनारायण मिश्र, श्री बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', ठाकुर जगमोहनसिंह और रायबहादुर लाला सीताराम के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

(ख) **भारतेन्दु-युग के पश्चात्**—वे कवि जो इस मण्डल के बाहर या भारतेन्दु के बाद के हैं उनमें श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' और मिश्रबन्धु बड़े ही लोकप्रिय हुए। कुछ लोग व्रजभाषा का अन्तिम कवि 'रत्नाकर' जी को ही मानते हैं। उनके 'उद्धव-शतक' और 'गंगावतरण' ने अत्यधिक प्रसिद्धि प्राप्त की। इनकी भाषा अत्यन्त परिनिष्ठित मधुर एवं सशक्त है। इनकी ये दोनों रचनायें बड़ी हृदयग्राही हैं। मिश्रबन्धुओं ने खड़ी बोली के अतिरिक्त व्रजभाषा में भी काव्य-रचना की है। राय देवी-प्रसाद 'पूर्ण', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सत्यनारायण कविरत्न, श्री वियोगी हरि, श्री दुलारेलाल भार्गव और पं० किशोरीदास वाजपेयी आदि ने भी व्रजभाषा-काव्य की परम्परा को जीवित रखा। इस प्रकार यह धारा अभी भी येन-केन-प्रकारेण चली आ रही है, इतना अवश्य है कि खड़ी बोली को काव्य-धारा ने इसे बहुत कुछ दबा दिया है।

(२) **खड़ी बोली का काव्य**—खड़ी बोली मेरठ और दिल्ली के आस-पास की बोली है जिसे ग्रहण कर उर्दू भाषा अस्तित्व में आई थी। इसमें काव्य-रचना का प्रारम्भ १४वीं शती से ही हो गया था और सर्वप्रथम अमीर खुसरो ने शुद्ध खड़ी बोली में पहेलियों और मुकरियों की रचना की थी। गोरखनाथ की भाषा में खड़ी बोली के तत्त्व अत्यधिक हैं। कबीर प्रभृति कुछ सन्त-कवियों और सूफियों की साखियाँ एवं बानियाँ भी खड़ी बोली में मिलती हैं। १७वीं शती से उर्दू का साहित्य हमें सुचारु रूप से मिलने लगा था। अँग्रेजों की कृपा से उर्दू के साथ खड़ी बोली के भी भाग्य जागे। पहले तो हिन्दी-कवियों ने इसे केवल गद्य के लिए ही अपनाया, लेकिन

धीरे-धीरे उनकी यह मान्यता कि खड़ी बोली पद्य के लिए अनुपयुक्त है, गलत सिद्ध होने लगी। द्विवेदी-युग में इस बोली के काव्य की बड़ी उन्नति हुई।

(क) **द्विवेदी-युग**--(सन् १९०३-१९३७ ई०) आचार्य महावीर-प्रसाद द्विवेदी (सन् १८६६ से १९३७ ई०) संस्कृत के विद्वान् थे, अतः हिन्दी काव्य में भी संस्कृत छन्दों के समर्थक थे। वे इन्हीं छन्दों में स्वयं भी रचना करते थे। द्विवेदी-युग के आरम्भिक काल तक खड़ी बोली की रचना के लिए छन्दों का निर्धारण नहीं हो सका था। उर्दू की लावनी के अनुकरण पर खड़ी बोली में भी काव्य-रचना हो रही थी। द्विवेदीजी ने सरस्वती (पत्रिका) द्वारा छन्द और व्याकरण सम्बन्धी अपनी मान्यताओं को कवियों और लेखकों तक केवल पहुँचाया ही नहीं, बल्कि उन्हें मानने को बाध्य भी किया। 'हरिऔधजी' और श्री मैथिलीशरण गुप्त की प्रतिभा का दान हिन्दी को जो प्राप्त हुआ उसके लिए हमें द्विवेदीजी का ही ऋण स्वीकार करना चाहिए।

द्विवेदी-युग की रचना-शैली स्थूल, वर्णनात्मक और इतिवृत्त-प्रधान मानी जाती है। बाद में चलकर उसमें भी सुधार हुआ और छायावाद एवं रहस्यवाद की नींव पड़ी, जिसे स्थूलता के प्रति सूक्ष्मता, लौकिकता के प्रति आध्यात्मिकता का विद्रोह कह सकते हैं।

इस युग के कवियों में पंडित श्रीधर पाठक, पंडित नाथूराम शंकर शर्मा, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' और श्री मैथिलीशरण गुप्त उच्च कोटि की विभूतियाँ हैं। इनके अतिरिक्त गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', सियारामशरण गुप्त, लाला भगवानदीन, माखनलाल चतुर्वेदी, पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', पं० रामनरेश त्रिपाठी और श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान आदि राष्ट्रीय काव्य-सर्जन के लिए विशेष उल्लेखनीय हैं।

(ख) **स्वच्छन्द विचारधारा—रहस्यवाद-छायावाद**—द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता के प्रति कुछ कवियों में विराग भर गया। वे पश्चिमी साहित्य से प्रभावित बंगाली-साहित्य के माध्यम से एक नई प्रेरणा ग्रहण कर रहे थे। आध्यात्मिकता की ओर उनकी रुचि तीव्र गति से झुक रही

थी। प्रकृति अब उनके लिए उनसे अलग एक सत्ता नहीं थी। उसमें उनकी अनुभूतियों का प्रतिविम्ब था। प्रकृति एक विराट् सत्ता की छाया थी। इसी में अपने और चिरन्तन सत्ता के अस्तित्व को ढूँढ़ना और उसमें सामञ्जस्य स्थापित करना उनका आदर्श था। सौन्दर्य-भावना व्यापक बनी और प्रेम सूक्ष्म एवं पारदर्शी बन गया। माँसल प्रेम का अस्तित्व अस्वीकृत हुआ। छन्द में भी प्राचीनता का मोह छूट गया। इतिवृत्तात्मक विषय छोड़ दिये गये और प्रगीत मुक्तकों को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया गया। निराशावाद, पलायनवाद एवं व्यक्तिवाद आदि इसके दोषों में गिनाये जाते हैं।

छायावाद के प्रवर्त्तकों में श्री जयशंकरप्रसाद अग्रगण्य थे। उस धारा को जिन कवियों ने स्वीकार किया उनमें मुख्य रूप से श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', श्री सुमित्रानन्दन पन्त, श्रीमती महादेवी वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, श्री रामकुमार वर्मा, मोहनलाल महतो 'वियोगी', श्री रामधारी-सिंह 'दिनकर', श्री गुरुभक्तसिंह 'भक्त' आदि के नाम गिनाये जा सकते हैं। छायावाद के अन्य कवियों में श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', श्री उदयशंकर भट्ट, सोहनलाल द्विवेदी, हरिकृष्ण 'प्रेमी', जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' और गोपालसिंह 'नैपाली' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

(ग) प्रगतिवादी काव्यधारा—(१९३७—१९४७) प्रगतिवादी साहित्य मार्क्स के तत्त्व-दर्शन पर आधारित एक विशेष विचार-धारा की कृति है इसमें भाग्यवाद, रहस्यवाद, आध्यात्मिकता, आस्तिकता एवं आर्थिक वर्गभेद आदि को स्वीकार नहीं किया गया है। हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में जिस प्रकार स्थूलता और इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध छायावाद ने सूक्ष्मता और वैयक्तिकता का स्वर उठाया था, उसी प्रकार छायावाद के विरुद्ध प्रगतिवाद का भी स्वर समझना चाहिए। प्रगतिवाद छायावाद की प्रतिक्रिया है, जिसकी पृष्ठभूमि में आर्थिक वैषम्य और जातीय शोषण के प्रति विरोध की भावना है। इसके कवियों में अधिकांश तो वे ही हैं, जो छायावाद के पोषक रह चुके हैं, जैसे 'निराला', पन्त, दिनकर, नरेन्द्र शर्मा,

शिवमंगलसिंह 'सुमन' और अंचल आदि। कुछ नये और कुछ उदीयमान कवियों ने भी इसके स्वर से अपना स्वर मिलाया है, जिनमें केदारनाथ, भारतभूषण अग्रवाल तथा नागार्जुन आदि मुख्य हैं।

(घ) **प्रयोगवादी धारा**—(१९४७—१९६०) यह हिन्दी की आधुनिक काव्य-प्रवृत्ति है। नये-नये विषयों पर कुछ नई शैली में, नई शब्दावली में और कुछ नये तर्ज पर काव्य-रचना करना ही इस धारा के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। अभी इस वाद के मान-दण्ड निश्चित नहीं हो पाये हैं। यदि वैविध्य और मौलिकता ही प्रयोग है, तो इसमें कोई नई बात नहीं है। प्रयोगवादी विषय-वर्णन की दृष्टि से घोर यथार्थवादी होता है। उसकी सीमा से कोई भी विषय काव्य-विषय बनने से बच नहीं सकता, यहाँ तक कि गधा, चप्पल और चम्मच भी कविता के विषय हो सकते हैं।

इस धारा के मुख्य प्रवर्त्तक श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' माने जाते हैं। अब प्रयोगवादी कवियों का दल बन गया है और उनकी पत्र-पत्रिकाएँ भी प्रकाशित होने लगी हैं। इन कवियों में श्री प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर, भवानीप्रसाद मिश्र, शमशेर बहादुर, शकुन्तला माथुर, गजानन मुक्तिबोध, नरेशकुमार और धर्मवीर भारती आदि के नाम उल्लेखनीय माने जाते हैं।

इधर कुछ वर्षों से कवियों का झुकाव लोक-गीतों की ओर अधिक दिखाई पड़ने लगा है। लोक-भाषा (बोलियों) के अकृत्रिम मनोहर शब्दों की सहायता से कविताओं की गेयता और मधुरता में वृद्धि करने की ओर कवियों की रुचि बढ़ रही है। जहाँ तक इस काव्य-धारा के वर्ण्य-विषय का प्रश्न है, उसमें बुभुक्षा, कुण्ठा, आत्मघात, निराशा, वर्तमान से विद्रोह, असन्तोष, आत्मश्लाघा, जिजीविषा आदि से सम्बद्ध भाव विशेष रूप से मुखर दिखाई देते हैं। अभी इस प्रकार के काव्य की रूप-रेखा निश्चित नहीं हो पाई है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वह कोई नया रूप ग्रहण करने की दिशा में बढ़ रही है।



विद्यापति

[१३५०—१४०२ ई०]

(१)

राधा की दूती

सुनु मनमोहन कि कहब तोय।
मुगुधिनी रमनी तुअ लगि रोय॥
निसि-दिन जागि जपय तुअ नाम।
थर-थर काँपि पड़य सोइ ठाम॥
जामिनि आध अधिक जब होइ।
विगलित लाज उठए तब रोइ॥
सखि गन जत परबोधय जाय।
तापिनि ताप ततहिं तत ताय॥
कह कवि सेखर ताक उपाय।
रचइत तवहि रयनि वहि जाय॥

(२)

कृष्ण की दूती

बिरह ब्याकुल बकुल तरु तर, पेखल नंद कुमार रे।
नील नीरज नयन सयँ सखि, ढरइ नीर अपार रे॥
पेखि मलयज-पंक मृगमद, तामरस घनसार रे।
निज पानि पल्लव मूँदि लोचन, धरनि पड़ असँभार रे॥
बहइ मंद सुगंध सीतल, मन्द मलय समीर रे।
जनि प्रलय कालक प्रबल पावक, दहइ सून सरीर रे॥
मान मनि तजि सुन्दरि चलु जहि, राए रसिक सुजान रे।
सुखद स्तुति अति सरस दंडक, कबि विद्यापति भान रे॥

(३)

सखि हे हमर दुखक नहिं ओर।
ई भर बादर माह भादर, सून मन्दिर मोर॥
झंपि घन गरजंति संतत, भुवन भरि बरसंतिया।
कंत पाहुन काम दारुन, सघन खर सर हंतिया॥
कुलिस कत सत पात, मुदित मयूर नाचत मातिया।
मत्त दादुर डाक डाहुक, फाटि जायत छातिया॥
तिमिर दिग भरि घोर जामिनि, अथिर बिजुरिक पाँतिया।
विद्यापति कह कइसे गमाओब, हरि विना दिन राँतिया॥

(४)

चानन भेल विषम सर रे, भूषण भेल भारी।
सपनहुँ हरि नहिं आयल रे, गोकुल गिरधारी॥
एक सरि ठाढ़ि कदम तर रे, पथ हेरत मुरारी।
हरि बिनु हृदय दगध भेल रे, झाँवर भेल सारी॥
जाउ जाउ तोहें ऊधव हे, तोहें मधुपुर जाहे।
चन्द्र बदनि नहिं जीवति रे, बध लागत काहे॥
भनइ विद्यापति तन मन रे, सुन गुनमति नारी।
आज आओत हरि गोकुल रे, पथ चलु झट झारी॥

(५)

अनु खन माधव माधव सुमरइत, सुन्दरि भेल मधाई।
औ निज भाव सुभावहि बिसरल, अपने गुन लुबधाई॥
माधव अपरुब तोहर सिनेह।
अपने बिरह अपनु तनु जरजर, जिवइत भेलि संदेह॥
भोरहि सहचरि कातरि दिठि हेरि, छल छल लोचन पानि।
अनुखन राधा राधा रटइत, आधा आधा बानि॥

राधा सयँ जब पुनतहँ माधव माधव सयँ जब राधा।
दारुन प्रेम तबहि नहि टूटत, बाढ़त बिरह क बाधा ॥
दुहु दिसि दारु दहन जैसे दगधइ, आकुल कीट परान।
ऐसन बल्लभ हेरि सुधामुखि, कवि विद्यापति भान ॥

कीर्तिलता

महुअर बुज्झइ कुसुम रस, कब्ब कलाउ छइल्ल।
सज्जन पर उपकार मन, दुज्जन मनहिं मइल्ल ॥१॥
पुरिसत्तणेन पुरिसओ, नहि पुरिसओ जन्म मत्तेण।
जलदानेन हु जलओ, नहि जलओ पुञ्जिओ धूमो ॥२॥
मान बिहूना भोअना, सत्तुक देएल राज।
सरण पइट्ठे जीअना, तीनू काअर काज ॥३॥

जौ अपमाने दुक्ख न मानइ।
दान खग्ग को मम्म न जानइ ॥
पर उपकारे धम्म न जोवइ।
सो धण्णो निच्चिन्ते सोवइ ॥४॥

●

प्रश्न-संकेत

१. "विद्यापति मूलतः शृङ्गार के कवि थे, भक्ति के नही" इस कथन की सोदाहरण पुष्टि कीजिए।
२. विद्यापति के ऊपर संकलित पदों के आधार पर राधा की विरहावस्था का अपने शब्दों में वर्णन कीजिए।
३. 'विद्यापति की भाषा' शीर्षक पर एक छोटा-सा निबन्ध लिखिए।

●

कबीर

[१४००—१५०० ई०]

कबीर सुमिरन सार है, और सकल जंजाल।
आदि अन्त सब सोधिया, दूजा देखौं काल ॥१॥
लंबा मारग दूरि- घर, विकट पंथ बहु मार।
कहौ संतौ क्यूँ पाइये, दुर्लभ हरि दीदार ॥२॥
समंदर लागी आगि, नदियाँ जलि कोइला भईं।
देखि कबीरा जागि, मंछी रूषाँ चढ़ि गईं ॥३॥
मन लागा उन मन सों, उन मन मनहिं बिलग्ग।
लूँण विलग्गा पाणियां, पाणी लूंण बिलग्ग ॥४॥
पाणी ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया, अब कछू कह्या न जाइ ॥५॥
यह ऐसा संसार है, जैसा सैंवल फूल।
दिन दस के व्यौहार कौं, झूठै रंगि न भूलि ॥६॥
पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ।
एकै आखर पीव का, पढ़ै सो पंडित होइ ॥७॥
सो०—नारी सेती नेह, बुधि विवेक सबही हरै।
काँइ गमावै देह, कारज कोई ना सरै ॥८॥
दो०—कबीरा माला काठ की, कहि समझावै तोहि।
मन न फिरावै आपणा, कहा फिरावै मोहि ॥९॥
स्वारथ को सब कोइ सखा, जग सगला ही जाणि।
बिन स्वारथ आदर करै, सो हरि की प्रीति पिछाणि ॥१०॥
साईं तें सब होत है, बंदे ते कुछ नाहिं।
राई तें परबत करै, परबत राई माहिं ॥११॥
आछे दिन पाछे गये, हरि सों किया न हेत।
अब पछिताए होत का, चिड़ियाँ चुग गईं खेत ॥१२॥

एकै साधे सब सधै, सब साधे सब जाइ।
जो तूँ सींचै मूल को, फूलै-फलै अघाइ ॥१३॥
कबिरा, कहा गरब्बियो, ऊँचे देखि अवास।
काल्ह परयौ भुंइं लेटणा, ऊपर जामै घास ॥१४॥

यह ऐसा संसार है, जैसा सेमल-फूल।
दिन दस के ब्यौहार को, झूठे रंग न भूल ॥१५॥
चलती चक्की देखकर, दिया कबीरा रोय।
दो पाटन के बीच में, साबित बचा न कोय ॥१६॥

करु बहियाँ बल आपणी, छाँड़ि पराई आस।
जाके आँगन है नदी, सो कत मरत पियास ॥१७॥
सुख के माथे सिल परै, (जो) नाम हृदय से जाय।
बलिहारी वा दुक्ख की, पल पल नाम रटाय ॥१८॥

कबिरा गर्व न कीजिये, काल गहे कर केस।
ना जानौं कित मारि है, क्या घर क्या परदेस ॥१९॥
रात गँवाई सोय करि, दिवस गँवायो खाय।
हीरा जनम अमोल था, कौड़ी बदले जाय ॥२०॥

आज कहै कल्ह भजूँगा, काल कहै फिर काल।
आज-काल के करत ही, औसर जासी चाल ॥२१॥
काल करै सो आज कर, आज करै सो अब्ब।
पल में परलै होयगी, बहुरि करैगा कब्ब ॥२२॥

कबिरा नौबत आपनी, दिन दस लेहु बजाय।
यह पुर पट्टन यह गली, बहुरि न देखौ आय ॥२३॥
पाँचों नौबत बाजती, होत छतीसों राग।
सो मन्दिर खाली पड़ा, बैठन लागे काग ॥२४॥
माटी कहै कुम्हार से, तूँ क्या रूँधै मोहि।
इक दिन ऐसा होइगा, मैं रूँधूँगी तोहि ॥२५॥

पद

संतौ भाई आई ग्यांन की आँधी।
भ्रम की टाटी सबै उडाँणीं, माया रहै न बाँधी ॥टेक॥
हित चित की द्वै थूंनि गिरानी, मोह बलींडा तूटा।
त्रिस्नां छाँनि परी धर ऊपरि, कुबधि का भाँडा फूटा ॥
जोग जुगति करि संतौं बाँधी, निरचू चुवै न पाँणीं।
कूड़ कपट काया का निकस्या, हरि की गति जब जाँणीं ॥
आँधी पीछैं जो जल बूठा, प्रेम हरी जन भींनां।
कहै कबीर भांन के प्रगटे, उदित भया तम षीनां ॥१॥

मन रे, तन कागद का पुतला।
लागै बूँद बिनसी जाइ छिन मैं, गरब करै क्या इतना ॥टेक॥
माटी खोदहिं भींत उसारै, अन्ध कहै घर मेरा।
आवै तलब बाँधि लै चालै, बहुरि न करिहै फेरा ॥
खोट कपट करि यहु धन जोर्यौ, लै धरती मैं गाड़्यौ।
रोक्यौ घटि सास नही निकसै, ठौर ठौर सब छाड़्यौ ॥
कहै कबीर नट नाटिक थाके, मदला कौन बजावै।
गये पषनियां उझरी बाजी, को काहू कै आवै ॥२॥

मन ना रँगाए रँगाए जोगी कपरा।
आसन मारि मन्दिर में बैठे, ब्रह्म छाँड़ि पूजन लागे पथरा ॥
कनवा फराय जोगी जटवा बढ़ौले, दाढ़ी बढ़ाय जोगी होइ गैले बकरा।
जंगल जाय जोगी धुनिया रमौले, कमवा जराय ज़ोगी होइ गैले हिजरा ॥
मथवा मुड़ाय जोगी कपड़ा रंगौले, गीता बाँच के होय गैले लबरा।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, जम दरवजवा बाँधल जैबे पकरा ॥३॥

ना जानै साहब कैसा है।
मुल्ला होकर बाँग जो दैवे, क्या साहब तेरा बहरा है।
कीड़ोके पग नेवर बाजे, सो भी साहब सुनता है ॥

माला फेरी तिलक लगाया, लम्बी जटा बढ़ाता है।
अन्तर तेरे कुफर-कटारी, यो नहिं साहब मिलता है ॥४॥

अवधू, कुदरतिकी गति न्यारी।
रंक निवाज करै वह राजा, भूपति करै भिखारी ॥
ये ते लँवगहिं फल नहिं लागे, चन्दन फूल न फूलै।
मच्छ शिकारी रमै जंगल में, सिंह समुद्रहि झूलै ॥
रेड़ा रूख भया मलयागिर, चहूँ दिसि फूटी बासा।
तीन लोक ब्रह्मांड खण्ड में, देखै अन्ध तमासा ॥
पंगुल मेरु सुमेर उलंघै, त्रिभुवन मुक्ता डोलै।
गूँगा ज्ञान-विज्ञान प्रकासै, अनहद बानी बोलै ॥
बाँधि अकास पताल पठावै, सेस सरगपर राजै।
कहै कबीर राम हैं राजा, जो कछु करै सो छाजै ॥५॥

प्रश्न-संकेत

१. 'समाजसुधारक के रूप में कबीरदास का व्यक्तित्व' विषय पर ऊपर लिखित उनकी बानियों और साखियों की सहायता से एक संक्षिप्त निबन्ध तैयार कीजिए।

२. "कबीरदास न हिन्दू थे, न मुसलमान; वे सामाजिक एकता के सन्देश के अग्रदूत थे।" इस कथन का समर्थन उनके उपदेशों को ध्यान में रखते हुए कीजिए।

३. कबीर के भक्ति-विषयक विचार अपने शब्दों में प्रस्तुत कीजिए।

जायसी

मलिक मुहम्मद

[१४९२—१५४२ ई०]

नखशिख

का सिंगार ओहि बरनौं, राजा। ओहिक सिंगार ओहि पै छाजा॥
प्रथम सीस कस्तूरी केसा। बलि बासुकि, का और नरेसा॥
भौंर केस, वह मालति रानी। बिसहर लुरे लेहिं अरघानी॥
बेनी छोरि झार जौं बारा। सरग पतार होइ अँधियारा॥
कोंवर कुटिलकेस नग कारे। लहरन्हि भरे भुअँग बैसारे॥
बेधे जनौं मलयगिरि बासा। सीस चढ़े लोटहिं चहुँ पासा॥
घुँघुरवार अलकैं विषभरी। सँकरैं पेम चहैं गिउ परी॥
अस फँदवार केस वै, परा सीस गिउ फाँद।
अस्टौ कुरी नाग सब, अरुझ केस के बाँद॥१॥

बरनौं माँग सीस उपराहीं। सेंदुर अबहिं चढ़ा जेहि नाहीं॥
बिनु सेंदुर अस जानहु दीआ। उजियर पंथ रैनि महँ कीआ॥
कंचन रेख कसौटी कसी। जनु घन महँ दामिनि परगसी॥
सुरुज-किरन जनु गगन बिसेखी। जमुना माँह सुरसती देखी॥
खाँड़ै धार रुहिर जनु भरा। करवत लेइ बेनी पर धरा॥
तेही पर पूरि धरे जो मोती। जमुना माँझ गंग कै सोती॥
करवत तपा लेहिं होई चूरू। मकु सो रुहिर लेइ देइ सेंदूरू॥
कनक दुवादस बानि होइ, चह सोहाग वह माँग।
सेवा करहिं नखत सब, उवै गगन जस गाँग॥२॥

कहौं लिलार दुइज कै जोती। दुइजहि जोति कहाँ जग ओती॥
सहज किरन जो सुरुज दिपाई। देखि लिलार सोउ छपि जाई॥
का सरिवर तेहि देउँ मयंकू। चाँद कलंकी, वह निकलंकू॥
औ चाँदहि पुनि राहु गरासा। वह बिनु राहु सदा परगासा॥

तेहि लिलार पर तिलक बईठा। दुइज-पाट जानहु धुव दीठा॥
कनक-पाट जनु बैठा राजा। सबै सिंगार अत्र लेइ साजा॥
ओहि आगे थिर रहा न कोऊ। दहुँ का कहँ अस जुरै सँजोगू॥
खरग, धनुक, चक्र वान दुइ, जग-मारन तिन्ह नावँ।
सुनि कै परा मुरुछि कै (राजा) मोकहँ हए कुठावँ॥३॥
नैन बाँक सरि पूज न कोऊ। मानसरोदक उलथहिं दोऊ॥
राते कँवल करहिं अलि भवाँ। घूमहिं माति चहहिं अपसवाँ॥
उठहिं तुरंग लेहिं नहिं वागा। चाहहिं उलथि गगन कइँ लागा॥
पवन झकोरहिं देइ हिलोरा। सरग लाइ भुइँ लाइ बहोरा॥
जग डोलै डोलत नैनाहाँ। उलटि अड़ार जाहिं पल माहाँ॥
जवहिं फिराहिं गगन गहि बोरा। अस वै भौंर चक्र के जोरा॥
समुद-हिलोर फिरहिं जनु झूले। खंजन लरहिं, मिरिग जनु भूले॥
सुभर सरोवर नयन वै, मानिक भरे तरंग।
आवत तीर फिरावहीं, काल भौंर तेहिं संग॥४॥
वरुनी का वरनौं इमि वनी। साधे बान जानु दुइ अनी॥
जुरी राम रावन कै सैना। वीच समुद्र भये दुइ नैना॥
वारहिं पार बनावरि साधा। जासहुँ हेर लाग विष-ब्राधा॥
उन्ह बानन्ह अस को जो न मारा ? वेधि रहा सगरौ संसारा॥
गगन नखत जो जाहिं न गने। वै सब वान ओहि के हने॥
धरती बान बेधि सब राखि। साखी ठाढ़ देहि सब साखी॥
रोवँ रोवँ मानस तन ठाढ़े। सूतहि सूत बेध अस गाढ़े॥
बरुनि बान अस ओपहँ, बेधे रन बन ढाँख।
सौजहि तन सब रोवाँ, पँखहिं तन सब पाँख॥५॥
नासिक खरग देउँ कह जोगू। खरग खीन, वह बदन-सँजोगू॥
नासिक देखि लजानेउ सूआ। सूक आइ बेसरि होइ ऊआ॥
सुआ जो पिअर हिरामन लाजा। और भाव का बरनौं राजा॥
सुआ, सो नाक कठोर पँवारी। वह कोंवर तिल-पुहुँप सँवारी॥

पुहुप सुगंध करहिं एहि आसा। मकु हिरकाइ लेइ हम्ह पासा॥
अधर दसन पर नासिक सोभा। दारिउँ बिंब देखि सुक लोभा॥
खंजन दुहुँ दिसि केलि कराहीं। दहुँ वह रस कोउ पाव कि नाहीं॥

देखि अमिय-रस अधरन्ह, भएउ नासिका कीर।
पौन बास पहुँचावै, अस रस छाँड़ न तीर॥६॥

अधर सुरंग अमी रस-भरे। बिंब सुरंग लाजि बन फरे॥
फूल दुपहरी जानौं राता। फूल झरहिं ज्यों ज्यों कह बाता॥
हीरा लेइ सो बिद्रुम-धारा। बिहँसत जगत होइ उजियारा॥
भए मँजीठ पानन्ह रंग लागे। कुसुम-रंग थिर रहै न आगे॥
अस कै अधर अमी भरि राखे। अबहिं अछूत, न काहू चाखे॥
मुख तँबोल-रँग-धारहिं रसा। केहि मुख जोग जो अमृत बसा?॥
राता जगत देखि रंग राती। रुहिर भरे आछहिं बिहँसाती॥

अमी अधर अस राजा, सब जग आस करेइ।
केहि कहँ कवँल बिगासा, को मधुकर रस लेइ?॥७॥

दसन चौक बैठे जनु हीरा। औ बिच बिच रंग स्याम गँभीरा॥
जस भादौं-निसि दामिनि दीसी। चमकि उठै तस बनी बतीसी॥
वह सुजोति हीरा उपराहीं। हीरा-जाति सो तेहि परछाहीं॥
जेहि दिन दसन जोति निरमई। बहुतै जोति जोति ओहि भई॥
रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती॥
जहँ जहँ बिहँसि सुभावहि हँसी। तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी॥
दामिनि दमकि न सरवरि पूजी। पुनि ओहि जोति और को दूजी?॥

हँसत दसन अस चमके, पाहन उठे झरक्कि।
दारिउँ सरि जो न कै सका, फाटेउ हिया दरक्कि॥८॥

रसना कहौं जो कह रस बाता। अमृत-बैन सुनत मन राता॥
हरै सो सुर चातक कोकिला। बिनु बसंत यह बैन न मिला॥
चातक कोकिल रहहिं जो नाहीं। सुनि वह बैन लाज छपि जाहीं॥
भरे प्रेम-रस बोलै बोला। सुनै सो माति घूमि कै डोला॥

चतुरवेद-मत सब ओहि पाहा। रिग, जजु, साम अथरबन माहाँ ॥
एक एक बोल अरथ चौगुना। इन्द्र मोह, बरम्हा सिर धुना ॥
अमर, भागवत, पिंगल गीता। अरथ बूझि पंडित नहीं जीता ॥
भासवती औ ब्याकरन, पिंगल पढ़ पुरान।
बेद-भेद सौं बात कह, सुजनन्ह लागै बान ॥९॥

पुनि बरनौं का सुरंग कपोला। एक नारंग दुइ किए अमोला ॥
पुहुप-पंक रस अमृत साँधे। केइ यह सुरंग खरौरा बाँधे? ॥
तेहि कपोल बाँए तिल परा। जेइ तिल देख सो तिल तिल जरा ॥
जनु घुँघुची ओहि तिल करमुहीं। बिरह बान साधे सामुहीं ॥
अगिनि-बान जानौं तिल सूझा। एक कटाछ लाख दस जूझा ॥
सो तिल गाल मेटि नहिं गएऊ। अब वह गाल काल जग भएऊ ॥
देखत नैन परी परछाहीं। तेहि ते रात साम उपराहीं ॥
सो तिल देखि कपोल पर, गगन रहा धुव गाड़ि।
खिनहिं उठै, खिनबूड़ै, डोलै नहिं तिल छाँड़ि ॥१०॥



प्रश्न-संकेत

१. कबीर और जायसी की आध्यात्मिक मान्यताओं के साम्य और वैषम्य को स्पष्ट करते हुए एक तुलनामूलक संक्षिप्त समीक्षा प्रस्तुत कीजिए।

२. "जायसी एक आँख के काने, एक कान के बहरे और कुरूप थे, पर उन्होंने एक सर्वप्रिय काव्य-रचना द्वारा अपने हृदय के अद्‌भुत सौन्दर्य का परिचय दिया"। इस कथन पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

३. ऊपर संकलित काव्यांश की सहायता से जायसी के काव्यगत वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालिए।



सूरदास

[१४६३—१५८३ ई०]

बाल-लीला

कहाँ लगि बरनौं सुन्दरताई ?
खेलत कुँवर कनक आँगन में, नैन निरखि छवि छाई।
कुलहि लसत सिर स्याम सुभग अति, बहु विधि रंग बनाई ॥
मानहु नवघन ऊपर राजत, मघवा धनुस चढ़ाइ।
अति सुदेश मृदु हरत चिकुर, मन मोहन-मुख बगराइ ॥
मानहु मंजुल प्रकट कंज पर, अलि अवली फिरि आइ।
नील श्वेत पर पीत-लाल मणि, लटकत भाल हराइ ॥
शनि गुरु असुर देवगुरु मिलि, मनौं भौम सहित समुदाइ।
दूधदंत-द्युति कहि न जाय अति, अद्भुत एक उपमाइ ॥
किलकत हँसत दुरत प्रगटत, मनों घन में बिज्जु छटाइ।
खंडित बचन देत पूरन सुख, अलप अलप जलपाइ ॥
घुटुरुन चलन रेणु तनु मंडित, सूरदास बलि जाइ ॥१॥

गहे अँगुरिया सुवन की, नंद चलन सिखावत।
अरबराय गिरि परत हैं, कर टेकि उठावत ॥
बार बार बकि स्याम सौं, कछु बोल बुलावत।
दुहुँ थाँ द्वै दँतुली भई, अति मुख छवि पावत ॥
कबहुँ कान्ह कर छाँड़ि नंद, पग द्वैक रिंगावत।
कबहुँक उलटिचले धाम को, घुटुरुन करि धावत ॥
सूर स्याम मुखदेखि महरि, मन हरप बढ़ावत ॥२॥

मैया कब बढ़िहैं मेरी चोटी।
किती बेर मोहिं दूध पिवत भई, यह अजहूँ है छोटी ॥
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों, ह्वैहै लाँबी मोटी।

काढ़त गुहत न्हवावत जैं हैं, नागिनि सी भुइँ लोटी ॥
काचो दूध पियावत पचि पचि, देति न माखन रोटी ।
सूरदास श्याम चिर जिउ दोनों भैया, हरि-हलधरकी जोटी ॥३॥

कजरी को पय पियहु लाल तेरी चोटी बढ़ै ।
सब लरिकन में सुन सुन्दर सुत तो श्री अधिक चढ़ै ॥
जैसे देखि और व्रज बालक त्यौं बल वैस बढ़ै ।
कंस केशि बक बैरिन के उर अनुदित अनल उठै ॥
यह सुनिकैं हरि पीवन लागे त्यों त्यों लियो लटै ।
अचवन पै तातो जब लाग्यो रोवन जीभ उठै ॥
पुनि पीवत ही कच टकटोवे झूठे जननि रढ़ै ।
सूर निरखि मुख हँसत यशोदा सो सुख उर न कढ़ै ॥४॥

तेरो लाल मेरो माखन खायो ।
दुपहर दिवस जानि घर सूनो, ढूँढि ढंढोरि आप ही आयो ॥
खोल किवार सून मंदिर में, दूध दही सब सखन खवायो ।
छींकैं काढ़ि खाट चढ़ि मोहन, कछु खायो कछु लै ढरकायो ॥
दिन प्रति हानि होत गोरस की, यह ढोटा कौने रंग लायो ।
सूरदास कहति ब्रजनारी, पूत अनोखो जायो ॥५॥

कन्हैया ! तू नहिं मोहि डरात ।
पटरस धरे छाँड़ि कत पर-घर चोरी करि करि खात ॥
बकति बकति तोसों पचि हारी नेकहु लाज न आई ।
ब्रज-परगन-सरदार महर तू ताकी करत नन्हाई ॥
पूत सपूत भयौ कुल मेरो अब मैं जानी बात ।
सूर स्याम अब लौं तोहि बगस्यो तेरी जानि न घात ॥६॥

मैया मैं नाहीं दधि खायो ।
बैर परे यह सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो ॥
देखि तुही छींकै पर भाजन ऊँचे कर लटकायो ।

तुही निरख नान्हे कर अपने मैं कैसे करि पायो ।।
मुख दधि पोंछि कहत नन्दनन्दन दोना पीठि दुरायो ।
डारि सांटि मुसकाइ यशोदा सुतहीं कंठ लगायो ।।
बाल-विनोद मोद मन मोह्यो भक्ति-प्रताप दिखायो ।
सूरदास प्रभु जसुमति के सुख शिव विरंचि बौरायो ।।७।।

चंद खिलौना लैहों मैया मेरी, चंद खिलौना लैहों ।
धौरी को पय पान न करिहों वेनी सिर न गुथैहों ।।
मोतिन माल न धरिहों उर पर झंगुली कंठ न लैहों ।
जैहों लोट अबहि धरनी पर तेरी गोद न ऐहों ।।
लाल कहैहों नन्द बबा को तेरो सुत न कहैहों ।
कान लाय कछु कहत जसोदा दाउहि नाहि सुनैहों ।।
चन्दा हू ते. अति सुन्दर तोहि नवल दुलहिया ब्यैहों ।
तेरी सौंह, मेरी सुन मैया ! अबहीं ब्याहन जैहों ।।
'सूरदास' सब सखा बराती नूतन मंगल गैहों ।।८।।

भ्रमर-गीत

कोउ आवत है तन स्याम ।
वैसेइ पट वैसिय रथ बैठनि, वैसिय है उर दाम ।।
जैसी हुति तैसिय उठि दौरीं छाड़ि सकल गृह काम ।
रोम पुलक, गदगद भईं तिहि छन सोचि अंग अभिराम ।।
इतनी कहत आय गए ऊधो, रहीं ठगी तिहि ठाम ।
सूरदास प्रभु ह्यां क्यों आवैं बंधे कुब्जा-रस स्याम ।।१।।

आए जोग सिखावन पांडे ।
परमारथी पुराननि लादे ज्यों बनजारे टांड़े ।।
हमरी गति पति कमलनयन की जोग सिखैं ते रांड़े ।

कहौ मधुप, कैसे समायँगे एक म्यान दो खाँड़े।।
कहु पटपद कैसे खैयतु है हाथिन के सग गाँड़े।
काकी भूख गई बयारि भखि बिना दूध घृत माँड़े।।
काहे को झाला लै मिलवत, कौन चोर तुम डाँड़े?
सूरदास तीनों नहिं उपजन धनिया धान कुम्हाँड़े।।२।।

हमरे कौन जोग-व्रत साधै?
मृगत्वच, भस्म, अधारि, जटाको को इतनो अवराधै?
जाकी कहूँ थाह नहि पैए अगम, अपार, अगाधै।
गिरिधर लाल छबीले मुख पर इते बाँध को बाँधै?
आसन, पवन, भूति, मृगछाला ध्याननि को अवराधै?
सूरदास मानिक परिहरि कै राख गाँठि को बाँधै?।।३।।

बिलग जनि मानहु, ऊधो प्यारे!
वह मथुरा काजर की कोठरि जे आवहिं ते कारे।।
तुम कारे, सुफलकसुत कारे, कारे मधुप भँवारे।
तिनके संग अधिक छवि उपजत कमलनैन मनिआरे।।
मानहु नील माठ तें काढ़े लै जमुना ज्यों पखारे।
ता गुन स्याम भई कालिंदी सूर स्याम-गुन न्यारे।।४।।

हमारे हरि हारिल की लकरी।
मन वच क्रम नन्दनन्दन ही सों उर यह दृढ़ करि पकरी।।
जागत, सोवत, सपने, सौंतुख कान्ह-कान्ह जकरी।
सुनतहि जोग लगत ऐसो अलि! ज्यों करुई ककरी।।
सोई व्याधि हमैं लै आए देखी सुनी न करी।
यह तौ सूर तिन्हें लै दीजे जिनके मन चकरी।।५।।

निर्गुन कौन देश को वासी ?

मधुकर ! हँसि समुझाय सौंह दै बूझति साँच न हाँसी ।।
को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि को दासी ?
कैसो बरन भेस है कैसो केहि रस में अभिलासी ।।
पावैगी पुनि कियो आपनो जो रे ! कहैगो गाँसी ।
सुनत मौन ह्वै रह्यो ठग्यो सो सूर सबै मति नासी ।।६।।

काहे को रोकत मारग सूधो ?

सुनहु मधुप ! निर्गुन-कण्टक तें राजपन्थ क्यों रूँधो ?
कै तुम सिखै पठाए कुब्जा, कै कही स्यामघनजू धौं ।
वेद पुरान सुमृति सब ढूँढौ जुवतिन जोग कहूँ धौं ?
ताको कहा परेखो कीजै जानत छाछ न दूधो ।
सूर मूर अक्रूर गए लै व्याज निबेरत ऊधो ।।७।।

उपमा एक न नैन गही ।

कवि जन-कहत कहत चलि आए सुधि करि-करि काहू न कही ।।
कहे चकोर, मुख-बिधु बिनु जीवत, भँवर न, तहँ उड़ि जात ।
हरि मुख-कमल-कोस बिछुरे तें ठाले क्यों ठहरात ?
खंजन मनरंजन जन जौ पै, कबहुँ नाहिं सतरात ।
पंख पसारि न उड़त, मन्द ह्वै समर-समीप बिकात ।।
आए बधन व्याध ह्वै ऊधो, जौ मृग, क्यों न पलाय ?
देखत भाजि बसै घन वन में जहँ कोउ संग न धाय ।।
ब्रजलोचन बिनु लोचन कैसे ? प्रतिछिन अति दुख बाढ़त ।
सूरदास मीनता कछु इक, जल भरि संग न छाँड़त ।।८।।

विनय-पत्रिका

गोविन्द प्रीति सबन की मानत।
जो जेहि भाय करै जन सेवा अन्तर की गति जानत ।।
बेर चाखि कटु तजि लै मीठे भिलडी दीने जाय।
जूठन की कछु शंक न कीनी भक्ष किये सदभाय ।।
सन्तत भक्त मीत हितकारी श्याम बिदुर के आए।
प्रेमहिं विकल बिदुर अर्पित प्रभु कदली छिलरा खाए ।।
कौरव काज चले ऋषि आपुन शाक के पत्र अघाए।
सूरदास करुणानिधान प्रभु युग युग भक्त बढ़ाए ।।१।।

अब हौं नाच्यौ बहुत गोपाल।
काम क्रोध को पहिरि चोलना कंठ विषय की माल ।।
महामोह के नूपुर बाजत निन्दा शब्द रसाल।
भरम भरयौ मन भयौ पखावज चलत असंगत चाल ।।
तृष्णा नाद करति घट भीतर नाना बिधि दै ताल।
माया कौ कटि फैंटा बाँध्यो लोभ तिलक दियो भाल ।।
कोटिक कला काछि दिखराई जल थल सुधि नहीं काल।
'सूरदास' की सबै अविद्या दूरि करहु नन्दलाल ।।२।।

कृपा अब कीजिए बलि जाऊँ।
नाहिंन मेरे अनत कहूँ अब पद अंबुज बिन ठाउँ ।।
हौं अशुचि अकृती अपराधी सन्मुख होत लजाउँ।
तुम कृपाल करुणानिधि केशव अधम उधारन नाउँ ।।
काके द्वार जाय हौं ठाढ़ो देखत काहि सुहाउँ।
अशरणशरण विरद व्यापक तुव हौं कुटिल काम सुभाउँ ।।
कलुषी परम मलीन दुष्ट हौं बेचौ तौ न बिकाउँ।
सूर पतितपावन पद अंबुज पारस क्यों परसाउँ ।।३।।

नाथ जू अब के मोहिं उबारो।

पतितन में विख्यात पतित हौं पावन नाम तुम्हारो ।।
बड़े पतित नाहिंन पासंग हूँ अजामील को हौं जु विचारो।
भाजै नरक नाउँ मेरो सुनि भवन दियो हठि तारो ।।
छुद्र पतित तुम तारे रमापति अव न करो जिय गारो।
सूरदास साँचो तुव माने जो होय मम निस्तारो ।।४।।

छाड़ि मन हरि बिमुखन को संग।

कहा भयौ पय पान कराये विष नहिं तजत भुजंग ।।
जाके संग कुबुधि उपजत है परत भजन में भंग।
काम क्रोध मद लोभ मोह में निश दिन रहत उमंग ।।
कागहिं कहा कपूर खवाये स्वान न्हवाए गंग।
खर को कहा अरगजा लेपन मरकट भूपन अंग ।।
पाहन पतित बाण नहिं भेदत रीतो करत निषंग।
सूरदास खल काली कामरि चढ़त न दूजो रंग ।।५।।

सबै दिन एकै से नहिं जात।

सुमिरन भगति लेहु करि हरि की जौं लगि तन कुसलात ।।
कबहुँक कमला चपल पाय कै टेढेइ टेढ़े जात।
कबहुँक मग मग धूरि टटोरत भोजन को बिलखात ।।
बालापन खेलत ही खोयो भक्ति करत अरसात।
सूरदास स्वामी के सेवत पैहो परम पद तात ।।६।।

प्रश्न-संकेत

१. सूरदास को हिन्दी साहित्याकाश का शशि मानना कहाँ तक उपयुक्त है ?

२. कृष्ण की बाल-लीलाओं पर एक लेख लिखिए।

३. सूरदास की भक्ति-भावना के स्वरूप पर अपने विचार प्रस्तुत कीजिए।

४. 'भ्रमर-गीत' का अर्थ बताते हुए गोपियों की विरहानुभूति के सम्बन्ध में एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

तुलसीदास
गोस्वामी
[१५३२—१६२३ ई०]

धनुर्भंग

चौपाई

विश्वामित्र समय सुभ जानी। बोले अति सनेह मय बानी ॥
उठहु राम भंजहु भवचापू। मेटहु तात जनक-परितापू ॥
सुनि गुरुवचन चरन सिरुनावा। हरष विषाद न कछु उर आवा ॥
ठाढ़ भये उठि सहज सुभाए। ठवनि जुवा मृगराज लजाए ॥

दोहा—उदित उदय-गिरि-मंच पर, रघुवर बालपतंग।
बिगसे संत सरोज सब, हरषे लोचन भृंग ॥१॥

चौपाई

नृपन्ह केरि आसा निसि नासी। बचन-नखत-अवलीन प्रकासी ॥
मानी महिप कुमुद सकुचाने। कपटी भूप उलूक लुकाने ॥
भए बिसोक कोक मुनि देवा। बरषहिं सुमन जनावहिं सेवा ॥
गुरुपद बंदि सहित अनुरागा। राम मुनिन्ह सन आयसु माँगा ॥
सहजहि चले सकल जग-स्वामी। मत्त-मंजु-बर कुंजर-गामी ॥
चलत राम सब पुर-नर-नारी। पुलक-पूरि तन भए सुखारी ॥
बंदि पितर सब सुकृत सँभारे। जौं कछु पुन्य प्रभाव हमारे ॥
तौ सिवधनु मृनाल की नाईं। तोरहिं राम गनेस गोसाईं ॥

दोहा—रामहिं प्रेम समेत लखि, सखिन्ह समीप बोलाइ।
सीता-मातु सनेह-बस, वचन कहे बिलखाइ ॥२॥

चौपाई

सखि सब कौतुक देखनिहारे। जेउ कहावत हितू हमारे॥
कोउ न बुझाइ कहइ नृप पाहीं। ए बालक अस हठ भल नाहीं॥
रावन बान छुआ नहिं चापा। हारे सकल भूप करि दापा॥
सो धनु राजकुँअर-कर देहीं। बालमराल कि मंदर लेहीं॥
भूपसयानप सकल सिरानी। सखि विधिगति कहि जाति न जानी॥
बोली चतुर सखी मृदु बानी। तेजवंत लघु गनिअ न रानी॥
कहँ कुंभज कहँ सिन्धु अपारा। सोखेउ सुजस सकल संसारा॥
रविमण्डल देखत लघु लागा। उदय तासु त्रिभुवन तम भागा॥

दोहा—मंत्र परम लघु जासु बस, बिधि-हरि-हर-सुर सर्व।
महा-मत्त-गज-राज कहँ, बस कर अंकुस खर्व॥३॥

चौपाई

काम कुसुम धनुसायक लीन्हें। सकल भुवन अपने बस कीन्हें॥
देवि तजिय संसय अस जानी। भंजब धनुष राम सुनु रानी॥
सखी बचन सुनि भइ परतीती। मिटा विषाद बड़ी अति प्रीती॥
तब रामहिं बिलोकि वैदेही। सभय हृदय विनवति जेहि तेही॥
मनहीं मन मनाव अकुलानी। होउ प्रसन्न महेस-भवानी॥
करहु सुफल आपनि सेवकाई। करि हित हरहु चाप-गरुआई॥
गननायक बरदायक देवा। आजु लगे कीन्हेंउ तव सेवा॥
बार-बार सुनि बिनती मोरी। करहु चाप-गरुता अति थोरी॥

दोहा—देखि देखि रघुवीर-तन, सुर मनाव धरि धीर।
भरे बिलोचन प्रेम-जल, पुलकावली सरीर॥४॥

चौपाई

नीके निरखि नयन भरि सोभा। पितुपनु सुमिरि बहुरि मनछोभा॥
अहह तात दारुन हठ ठानी। समुझत नहिं कछु लाभ न हानी॥

सचिव सभय सिख देइ न कोई। बुध समाज बड़ अनुचित होई ॥
कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा ॥
विधि केहि भाँति धरउँ उर धीरा। सिरिस-सुमन-किन बेधिय हीरा ॥
सकल सभा कै मति भै भोरी। अब मोहि संभु-चाप गति तोरी ॥
निज जड़ता लोगन्ह पर डारी। होहु हरुअ रघुपतिहि निहारी ॥
अति परिताप सीयमन माहीं। लवनिमेष जुगसम चलि जाहीं ॥

दोहा—प्रभुहिं चितै पुनि चितै महि, राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज-मीन-जुग, जनु बिधुमण्डल डोल ॥ ५ ॥

चौपाई

गिरा अलिनि मुखपंकज रोकी। प्रगट न लाज निसा अवलोकी ॥
लोचन जल रह लोचन कोना। जैसे परम कृपन कर सोना ॥
सकुची व्याकुलता बड़ि जानी। धरि धीरज प्रतीति उर आनी ॥
तन मन वचन मोर पन साँचा। रघुपति पद-सरोज चितु राँचा ॥
तौ भगवान सकल-उर-बासी। करिहहिं मोहिं रघुवर कै दासी ॥
जेहि कै जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलै न कछु संदेहू ॥
प्रभु तन चितै प्रेमपन ठाना। कृपानिधान राम सब जाना ॥
सियहिं विलोकि तकेउ धनु कैसे। चितव गरुड़ लघु व्यालहिं जैसे ॥

दोहा—लखन लखेउ रघुबंस मनि, ताकेउ हर कोदण्ड।
पुलकि गात बोले वचन, चरन चांपि ब्रह्माण्ड ॥ ६ ॥

चौपाई

दिसि कुंजरहु कमठ अहि कोला। धरहु धरनि धरि धीर न डोला ॥
राम चहहिं संकर धनु तोरा। होहु सजग सुनि आयसु मोरा ॥
चाप समीप राम जब आये। नर-नारिन्ह सुर सुकृति मनाये ॥
सब कर संसय अरु अज्ञानू। मंद महीपन्ह कर अभिमानू ॥

भृगुपति केरि गरब-गरुआई। सुर-मुनिवरन्ह केरि कदराई ॥
सिय कर सोच जनक पछितावा। रानिन्ह कर दारुन दुख-दावा ॥
संभुचाप बड़ बोहित पाई। चढ़े जाइ सब संग बनाई ॥
राम - बाहु - बल - सिंधु अपारू। चहत पार नहिं कोउ कनहारू ॥

दोहा—राम बिलोके लोग सब, चित्र लिखे से देखि।
चितई सीय कृपायतन, जानी बिकल बिसेखि ॥ ७ ॥

चौपाई

देखी बिपुल बिकल बैदेही। निमिष बिहात कलप सम तेही ॥
तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा। मुए करै का सुधा-तड़ागा ॥
का बरषा जब कृषी सुखाने। समय चूक पुनि का पछिताने ॥
अस जिय जानि जानकी देखी। प्रभु पुलके लखि प्रीति बिसेखी ॥
गुरुहिं प्रणाम मनहिं मन कीन्हा। अतिलाघव उठाइ धनुलीन्हा ॥
दमकेउ दामिनि जिमि जब लयऊ। पुनि नभ धनु मंडल सम भयऊ ॥
लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा देख सब ठाढ़े ॥
तेहि छन राम मध्य धनु तोरा। भरेउ भुवन धुनि घोर कठोरा ॥

छंद

भरे भुवन घोर कठोर रव,
रवि बाजि तजि मारग चले।
चिक्करहिं दिग्गज डोल महि,
अहि कोल कूरम कलमले।
सुर असुर मुनि कर कान दीन्हें,
सकल बिकल बिचारहीं।
कोदंड खण्डेउ राम तुलसी,
जयति बचन उचारहीं ॥

सोरठा—संकर चाप जहाज, सागर रघुबर-बाहु-बल।
वूड़ सो सकल समाज, चढ़े जो प्रथमहिं मोह बस ॥ ८ ॥

चौपाई

प्रभु दोउ चापखंड महि डारे। देखि लोग सब भए सुखारे ॥
कौसिक-रूप-पयोनिधि पावन। प्रेमवारि अवगाह सुहावन ॥
राम-रूप-राकेस निहारी। बढ़त बीचि पुलकावलि भारी ॥
बाजे नभ गहगहे निसाना। देवबधू नाचहिं करि गाना ॥
ब्रह्मादिक सुर सिद्ध मुनीसा। प्रभुहिं प्रसंसहिं देहिं असीसा ॥
बरषहिं सुमन रंग बहु माला। गावहिं किन्नर गीत रसाला ॥
रही भुवन भरि जय जय बानी। धनुष-भंग-धुनि जात न जानी ॥
मुदित कहहिं जहँ तहँ नर नारी। भंजेउ राम संभु धनु भारी ॥

दोहा—बंदी मागध सूत गन, बिरद बदहिं मतिधीर।
करहिं निछावरि लोग सब, हय-गज-धन-मनि-चीर ॥ ९ ॥

(रामचरितमानस से)

राम-वन-गमन

सवैया

नाम अजामिल से खल कोटि अपार, नदी भव बूड़त काढ़े।
जो सुमिरे गिरि मेरु सिला-कन होत, अजा-खुर वारिधि बाढ़े।
तुलसी जिहि के पदपंकज ते प्रगटी, तटिनी जु हरे अघ गाढ़े।
सो प्रभु या सरिता तरिबे कहँ, माँगत नाव करारे ह्वै ठाढ़े ॥१॥

एहि घाट ते थोरिक दूरि अहै, कटि लौं जल-थाह देखाइहौं जू।
परसे पग धूरि तरै तरनी, घरनी घर का समझाइहौं जू।
तुलसी अवलंब न और कछू, लरिका केहि भाँति जिआइहौं जू।
बरु मारिये मोहि बिना पग धोये, हौं नाथ न नाँव चढ़ाइहौं जू ॥२॥

रावरे दोस न पायन को पग-धूरि, को भूरि प्रभाउ महा है।
पाहन ते बन-वाहन काठ को कोमल है, जल खाइ रहा है।
पावन पाय पखारि कै नाव चढ़ाइहौं, आयसु होत कहा है।
तुलसी सुनि केवट के बर बैन, हँसे प्रभु जानकि ओर हहा है ॥३॥

कवित्त

पात-भरी सहरी सकल सुत बारे-बारे,
केवट की जाति, कुछ बेद न पढ़ाइहौं।
सब परिवार मेरो याहि लागि राजा जू,
हौं दीन बित्तहीन, कैसे दूसरी गढ़ाइहौं।
गौतम की घरनी ज्यों तरनी तरेगी मेरी,
प्रभु सौं निखाद ह्वै के बाद ना बढ़ाइहौं।
तुलसी के ईस राम रावरे सौं साँची कहौं,
बिना पग धोये नाथ नाव ना चढ़ाइहौं ॥४॥

सवैया

पुर ते निकसी रघुबीर बधू, धरि धीर दये मग में डग द्वै।
झलकी भरि भाल कनी जल की, पुट सूखि गये मधुराधर वै।
फिरि बूझति है चलनो अब केतिक, पर्नकुटी करिहौं कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता पिय की, अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै ॥५॥

रानी मैं जानी अजानी महा, पवि पाहन हूँ तें कठोर हियो है।
राजहू काज अकाज न जान्यो, कह्यो तिय को जिन कान कियो है।
ऐसी मनोहर मूरति ये बिछुरे, कैसे प्रीतम लोग जियो है।
आँखिन में सखि रखिबे जोग इन्हें किमि कै बनबास दियो हैं ॥६॥

सीस जटा उर बाहु बिसाल, बिलोचन लाल तिरीछी-सी भौहैं।
तून सरासन बान धरे, तुलसी बनमारग में सुठि सोहैं।
सादर बारहि-बार सुभाय चितै, तुम त्यों हमरो मन मोहैं।
पूछति ग्राम बधू सिय सों, कहो साँवरे से सखि रावरे को हैं ॥७॥

सुनि सुन्दर बैन सुधा-रस-साने सयानी हैं जानकी जानि भली।
तिरछे करि नैन, दे सैन तिन्हें, समुझाइ कछू मुसकाइ चली।
तुलसी तेहि औसर सोहैं सबै, अवलोकति लोचन लाहु अली।
अनुराग तड़ाग में भानु उदै, बिगसीं मनों मंजुल कंज कली ॥८॥

बिंध्य के बासी उदासी तपोव्रतधारी महाबिनु नारी दुखारे।
गौतम-तीय तरी, तुलसी, सो कथा सुनि भे मुनि-वृन्द सुखारे।
ह्वै हैं सिला सब चंद्रमुखी, परसे पद-मंजुल कंज निहारे।
कीन्हीं भली रघुनायक जू, करुना करि कानन को पगु धारे ॥९॥

(कवितावली से)

दोहे

साधन साँसति सब सहत सुमन सुखद फल लाहु।
तुलसी चातक जलद की, रीझ बूझ बुध काहु ॥ १ ॥
डोलत बिपुल बिहंग बन, पियति पोखरिन बारि।
सुजस धवल चातक नवल, तोर भुवन दस-चारि ॥ २ ॥
ऊँची जाति पपीहरा, पियत न नीचो नीर।
कै जाँचै घनश्याम सों, कै दुख सहै सरीर ॥ ३ ॥
ह्वै अधीन जाँचै नहीं, सीस नाइ नहिं लेइ।
ऐसे मानी माँगनिहिं, को बारिद बिनु देइ ॥ ४ ॥
तुलसी चातक देत सिख, सुतहि बार ही बार।
तात न तरपन कीजियो, बिना बारिधर-धार ॥ ५ ॥
खेलत बालक ब्याल संग, मेलत पावक हाथ।
तुलसी सिसु पितु मात इव, राखत सिय-रघुनाथ ॥ ६ ॥
घर कीन्हे घर होत है, घर छोड़े घर जाय।
तुलसी घर बन बीच ही, रहहु प्रेम-पुर छाय ॥ ७ ॥

पग अंतर मग अगम जल, जल-निधि जल संचार।
तुलसी करिया करम बस, बूड़त तरत न बार॥ ८॥
तुलसी हरि-अपमान तें, होत अकाज समाज।
राज करत रज मिल गए, सदल सकल कुरु-राज॥ ९॥
राम-नाम मनि-दीप धरु, जीह - देहरी द्वार।
तुलसी, भीतर-बाहरौ, जो चाहसि उजियार॥१०॥
बरषा ऋतु रघुपति-भगति, तुलसी सालि सुदास।
राम नाम बर बरन जुग, सावन - भादौं मास॥११॥
भगत-हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप।
किये चरित पावन परम, प्राकृत नर अनुरूप॥१२॥
साहव तें सेवक वड़ो, जो निज धरम सुजान।
राम बाँधि उतरे उदधि, लाँघि गएँ हनुमान॥१३॥

(दोहावली से)

पद

केसव! कहि न जाइ का कहिए?
देखत तव रचना विचित्र हरि समुझि मनहिं मन रहिए॥
सून्य-भीति पर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोए मिटै न मरै भीति, दुख पाइय यहि तनु हेरे॥१॥
रबिकर-नीर, बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं।
बदनहीन सो ग्रसै चराचर, पान करन जे जाहीं॥
कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै।
तुलसीदास परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचानै॥२॥



प्रश्न-संकेत

१. उद्धृत काव्यांश के आधार पर सीता-स्वयंवर के समय राम के द्वारा किये गये धनुर्भंग का अपने शब्दों में वर्णन कीजिए ।

२. 'राम-वन-गमन' प्रसंग के आधार पर केवट के विनय से संवद्ध सवैयों के काव्य-सौंदर्य पर प्रकाश डालिए ।

३. 'सूर सूर तुलसी ससी' के आधार पर तुलसी का आध्यात्मिक, सामाजिक और साहित्यिक महत्त्व बताइए ।



केशवदास

[१५५५—१६१७ ई०]

सीता-हनुमान-संवाद

देखि देखि कै असोक राजपुत्रिका कह्यौ।
देहि मोहि आगि तैं जो अंग आगि है रह्यौ॥
ठौर पाइ पौन पुत्र डारि मुद्रिका दई।
आस पास देखि कै उठाइ हाथ कै लई॥

जब लगी सियरी हाथ। यह आग कैसी नाथ॥
यह कहौं लखि तव ताहि। मनि जटित मुँदरी अहि॥
जब बाचि देख्यौ नाउँ। मन परयो संभ्रम भाउ॥
आबाल ते रघुनाथ। यह धरी अपने हाथ॥
बिछुरी सो कौन उपाउँ। कहि आनियो यहि ठाउँ॥
सुधि लहौं कौन उपाउँ। अव काहि बूझन जाउँ॥
चहुँ ओर चितै सत्रास। अवलोकियौ आकास॥
तहँ शाख बैठो नीढि। तव परयो बानर डीढि॥
तव कहौ, को तू आहि। सुर असुर मोतन चाहि॥
कै यच्छ पच्छ विरूप। दस कंठ बानर रूप॥
कहि आपनौ तू भेद। न तु चित्त उपजत खेद॥
कहि बेगि बानर पाप। न तू तोहि दैहों शाप॥
डरि वृच्छ शाखा झूमि। कपि उतरि आयो भूमि॥

कर जोरि कह्यौ हौं पवन पूत।
प्रिय जननि जानु रघुनाथ दूत॥
रघुनाथ कौन? 'दसरत्थ नंद'।
दसरत्थ कौन अज तनय कंद॥

केहि कारण पठए यहि निकेत।
निज देन लेन संदेश हेत॥
गुन रूप सील शोभा सुभाउ।
कछु रघुपति के लच्छन बताउ॥
अति यदपि सुमित्रा नंद भक्त।
अति सेवक हैं अति सूर सक्त॥
अरु यदपि अनुज तीन्यौ समान।
पै तदपि भरत भावत निदान॥
ज्यौं नारायण उर श्री वसंति।
त्यौं रघुपति उर कछु द्युति लसंति॥
जग जितने हैं सब भूमि भूप।
सुर असुर न पूजें राम रूप॥

सीता

मोहि परतीति यहि भाँति नहिं आवई।
प्रीति कहि धौं सु नर बानरनि क्यों भई॥
बात सब वर्णि परतीति हरि त्यौं दई।
आँसु अन्हवाइ उर लाइ मुँदरी लई॥

आँसु बरषि हियरे हरषि सीता सुखद सुभाइ।
निरखि निरखि पिय मुद्रकहिं बरनति है बहु भाइ॥

यह सूर किरण तम दुखहारि।
ससिकला किधौं उर सीतकारि॥
कल कीरति-सी सुभ सहित नाम।
कै राज्य श्री यह तजी राम॥
कै नारायन उर सम लसंति।
सुभ अंकन ऊपर श्री बसंति॥

वर विद्या-सी आनंददानि।
जनु माया अच्छर सहित देखि ।।
कै पत्री निश्चय दानि लेखि।
प्रिय प्रतिहारिणी सी निहारि ।।
श्री रामोजय उच्चार कारि।
पिय पठई मानौ सखि सुजान ।।
जग भूषण को भूषण निधान।
निजु आई हमकौं सीख देन ।।
यह किधौं हमारो मरम लेन।

सुखदा सिखदा अर्थदा यसदा रसदातारि।
रामचन्द्र की मुद्रिका, किधौं परम गुरुनारि ।।
बहुवरना सहज प्रिया तम गुणहरा प्रमान।
जगमारग दरसावनी, सूरज किरण समान ।।
श्री पुर में वन मध्य हौं, तू मग करी अनीति।
कहि मुँदरी अब तियन की, को करि है परतीति ।।

कहि कुसल मुद्रिके ? राम गात।
पुनि लक्ष्मण सहित समान तात ।।
यह उत्तर देति न बुद्धिवंत।
केहि कारण धौं हनुमत संत ।।

हनुमान

दोहा—तुम पूछत कहि मुद्रिके, मौन होत यहि नाम।
कंकन की पदवी दई, तुम बिन या कहँ राम ।।

कवित्त—दीरघ दरीन बसैं केसोदास केसरी ज्यौं।
केसरी कौं देखि वन करीं ज्यों कँपत हैं ।।
वासर की संपति उलूक ज्यौं न चितवत।
चकवा ज्यौं चंद चितै चौगुनों चँपत हैं ।।

केका सुनि व्याल ज्यौं विलात जात घनश्याम।
घनन की घोरनि जवासो ज्यौं तपन हैं॥
भौंर ज्यौं भैंवत बन जोगी ज्यौं जपत रैंनि।
साकत ज्यौं राम नाम तेरोई जपत हैं॥

दोहा—दुख देखे सुख होहिगो, सुक्ख न दुःख विहीन।
जैसे तपसी तप तपे, होत परम पद लीन॥
वरषा वैभव देखिकै, देखी सरद सकाम।
जैसे रन में काल भट, भेंटि भेंटियत वाम॥
दुःख देखिकै देखिहौं, तव मुख आनंदकंद।
तपन ताप तपि द्यौस निसि, जैसे शीतल चंद॥
अपनी दसा कहा कहौं, दीप-दसा सी देह।
जरत जाति वासर-निसा, केसव सहित सनेह॥

छंद—कछु जननि दे परतीति जासों रामचन्द्रहि आवई।
सुभ सीस की मनि दई, यह कहि, सुयस तव जग गावई॥
सब काल ह्वै हौ अमर अरु तुम समर जयपद पाइहौ।
सुत आजु ते रघुनाथ के तुम परम भक्त कहाइहौ॥

प्रश्न-संकेत

१. अशोक-वाटिका में हुए सीता और हनुमान-संवाद का सारांश अपने शब्दों में लिखिए।

२. 'केशवदास की काव्य-कला' पर एक निवन्ध लिखिए।

३. 'केशव कठिन काव्य के प्रेत थे।' इस कथन पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

सेनापति

[१५८९–१६६९ ई०]

षट् ऋतु-वर्णन

ग्रीष्म

वृष को तरनि तेज सहसौ किरनि तपै,
ज्वालनि के जाल विकराल वरखत हैं।
तचति धरनि जग झुरत झरनि सीरी,
छाँह को पकरि पंथी-पंछी विरमत हैं॥
'सेनापति' नेक दुपहरी ढरकत होत,
घमका विषम जो न पात खरकत हैं।
मेरे जान पौन सीरी ठौर को पकरि कौनो,
घरी एक वैठि कहूँ घामैं बितवत हैं॥१॥

'सेनापति' उवैं दिनकर के चलत लुवैं,
नदी-नद-कुवैं कोपि डारत सुखाइकै।
चलत पवन मुरझात उपवन-वन,
लाग्यौ है तपन जऱ्यौ भूत लौं तचाइकैं॥
भीखम तपत ऋतु ग्रीषम, सकुच तातें,
सीकर चपत तहखाननि में जाइकैं।
मानो सीतकाल सीतलता के जमाइवै को,
राखे हैं विरंचि बीज धरा में छिपाइकैं॥२॥

वर्षा

'सेनापति' उनए नए जलद सावन के,
चारिहू दिसनि घुमरत भरे तोइ कैं।
सोभा सरसाने, न बखाने जात केहूँ भाँति,
आने हैं पहार मानो काजर के ढोइ कैं॥

घन सों गगन छयो, तिमिर सघन भयो,
देखि न परत मानो रवि गयो खोइ कै।
चारि मास भरि स्याम निसा को भरम मानि,
मेरो जान, याही ते रहत हरि सोइकै ।।३।।

शरद्

कातिक की राति थोरी-थोरी सियराति 'सेना—
पति' है सुहाति, सुखी जीवन के गन हैं।
फूले हैं कुमुद, फूली मालती सघन बन,
फूलि रहे तारे मानो मोती अनगन हैं।।
उदित बिमल चन्द, चाँदनी छिटकि रही,
राम को सो जस अध ऊरध गगन है।
तिमिर हरन भयो सेत है बरन सब,
मानहु जगत छीरसागर मगन है ।।४।।

हेमन्त

सीत को प्रबल 'सेनापति' कोपि चढ़यो दल,
निबल अनल दूरि गयो सियराइ कै।
हिम के समीर तेई बरखैं बिखम तीर,
रही है गरम भौन-कोननि में जाइकै ।।
धूम नैन बहैं, लोग होत हैं अचेत तऊ,
हिय सों लगाइ रहे नेक सुलगाई कै।
मानो भीत जानि महा-सीत सों पसारि पानि,
छतियाँ की छाह राख्यो पावक छिपाइ कै ।।५।।

शिशिर

सिसिर तुखार के बुखार सों उखारत है,
पूस बीते होत सून हाथ-पाँय ठिरि कै।
द्यौस की छुटाई की बड़ाई बरनी न जाइ,
'सेनापति' गाई कछु सोचिकै सुमिरि कै।
सीत तें सहसकर सहस-चरन ह्वैकै,
ऐसे जात भाजि, तम आवत है घिरिकै।
जो लौं कोकी कोक को मिलति तोलौं होति राति,
कोक अधबीच ही तें आवत है फिरिकै ॥६॥

सिसिर में ससि को सरूप पावै सविताहू,
घाम हूँ में चाँदनी की दुति दमकति है।
'सेनापति' होति है सीतलता सहसगुनी,
रजनी की छाई बासर में झमकति है।
चाहत चकोर सूर ओर दृग छोर करि,
चकवा की छाती तजि धीर धसकति है।
चंद के भरम होत मोद है कुमोदिनी को,
ससि-संक पंकजनी फूलि न सकति है ॥७॥

वसन्त

लाल लाल टेसू फूलि रहे हैं विलास संग,
स्याम रंगमयी मानो मसि में मिलाए हैं।
तहाँ मधु-काज आइ बैठें मधुकर-पुञ्ज,
मलय पवन उपवन-बन धाए हैं।

'सेनापति' माधव महीना में पलास तरु,
देखि देखि भाव कविता के मन आए हैं।
आधे अङ्ग सुलगि सुलगि रहे, आधे मानो,
बिरही दहन काम क्वैला परचाये हैं ॥८॥

●

प्रश्न-संकेत

१. ऊपर लिखित कवित्तों के आधार पर भिन्न-भिन्न ऋतुओं में होने वाले परिवर्तनों का उल्लेख कीजिये।

२. "सेनापति का प्रकृति-पर्यवेक्षण बड़ा ही सूक्ष्म है।" इस कथन का सोदाहरण समर्थन कीजिए।

●

बिहारी

[१६०३–१६६३ ई०]

दोहे

मेरी भवबाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झांई परैं, स्याम हरित-दुति होइ ॥१॥
मैं हो जान्यौ लोयननु, जुरत बाढ़िहै जोति।
को हो जानतु दीठि कौं, दीठि किरकिरी होति ॥२॥
कोरि जतन कीजै तऊ, नागरि नेह दुरैन।
कहे देत चितु-चीकनौ, नई रुखाई नैन ॥३॥
बतरस-लालच लाल की, मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करै भौंहनु हँसै, दैन कहै नटि जाइ ॥४॥
जद्यपि सुन्दर सुघर पुनि, सगुनौ दीपक देह।
तऊ प्रकासु करै तितौ, भरिये जितैं सनेह ॥५॥
लाल सलोने अरु रहे, अति सनेह सों पागि।
तनक कचाई देत दुख, सूरन लौं मुँह लागि ॥६॥
क्यौं बसियै क्यौं निब्रहियै, नीति नेहपुर नाँहि।
लगालगी लोइन करैं, नाहक मन बँधि जाँहि ॥७॥
इन दुखिया अँखियानु कौं, सुखु सिरज्योई नाँहि।
देखैं बनै न देखतै, अनदेखैं अकुलाँहि ॥८॥
हौं हीं बौरी विरह बस, कै बौरौ सबु गाउँ।
कहा जानि ते कहत हैं, ससिहिं सीतकर नाउँ ॥९॥
तंत्रीनाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग।
अनबूड़े बूड़े तरे, जे बूड़े सब अंग ॥१०॥
रुनित भृङ्ग घंटावलि, झरत दान मधु नीर।
मन्द-मन्द आवत चल्यो, कुञ्जर कुंज समीर ॥११॥

चटक न छाँड़तु घटत हूँ, सज्जन नेह गंभीरु।
फीकौ परै न वरु फटै, रंग्यौ चोल रंग चीरु ॥१२॥
इही आस अटक्यो रहतु, अलि गुलाब कैं मूल।
ह्वैहैं फेरि बसंत ऋतु, इन डारनु वे फूल ॥१३॥
पटु पाँखै भख काँकरै, सपर परेई संग।
सुखी परेवा पुहुमि मै, एकै तुही बिहग ॥१४॥
स्वारथु सुकृतु न श्रम वृथा, देखि बिहंग बिचारि।
बाज पराएँ पानि परि, तूँ पच्छीनु न मारि ॥१५॥
नहि पावसु ऋतुराज यह, तजि तरवर चित भूल।
अपतु भएँ बिनु पाइहै, क्यौं नव दल-फल-फूल ॥१६॥
दीरघ साँस न लेहि दुख, सुख साईं हि न भूलि।
दई-दई क्यौं करतु है, दई दई सु कबूलि ॥१७॥
संगति सुमति न पावहीं, परे कुमति कैं धंध।
राखौ मेलि कपूर में, हींग न होइ सुगंध ॥१८॥
जौ चाहत चटक न घटै, मैलौ होइ न मित्त।
रज राजसु न छुवाइ तौ, नेह चीकनौं चित्त ॥१९॥
अति अगाधु अति औथरौ, नदी कूप सरु वाइ।
सो ताकौ सागरु जहाँ, जाकी प्यास बुझाइ ॥२०॥
समै समै सुन्दर सबै, रूपु कुरूपु न कोइ।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होइ ॥२१॥

सोरठा

मैं समुझ्यौ निरधार, यह जगु कांचो काँच सौ।
एकै रूपु अपार, प्रतिबिम्बित लखियतु जहाँ ॥२२॥

दोहे

को छुट्यौ इहिं जाल परि, कत कुरंग अकुलात।
ज्यौं ज्यौं सुरीझ भज्यौ चहत, त्यौं त्यौं उरझत जात ॥२३॥

कनक कनक तैं सौगुनौ, मादकता अधिकाइ।
उहिं खाएँ बौराइ नर, इहिं पाएँ बौराइ ॥२४॥
भजन कह्यौ तातैं भज्यौ, भज्यौ न एकौ बार।
दूरि भजन जातैं कह्यौ, सो तैं भज्यौ गँवार ॥२५॥
तौ लगु या मन सदन मैं, हरि आवैं किहिं बाट।
विकट जुटे जौ लगु निपट,खुलैं न कपट कपाट ॥२६॥
जपमाला छापैं तिलक, सरै न एकौ कामु।
मन काँचै नाचै वृथा, साँचै राँचै रामु ॥२७॥
यहि बिरिया नहिं और की, तू करिया वह सोधि।
पाहन नाव चढ़ाइ जिहिं, कीने पार पयोधि ॥२८॥
कीजै चित सोई तरे, जिहिं पतितनु के साथ।
मेरे गुन औगुन गननु, गनौ न गोपीनाथ ॥२९॥

सोरठा

मोहूँ दीजै मोषु, ज्यौं अनेक अधमनु दियौ।
जौ बाँधै हो तोषु, तौ बाँधौ अपनै गुननु ॥३०॥

●

प्रश्न-संकेत

१. "सतसइया के दोहरे जिमि नावक के तीर। देखन में छोटे लगैं घाव करैं गम्भीर।" इस कथन की उदाहरण सहित पुष्टि कीजिए।
२. बिहारी की कल्पना और भाषा-प्रयोग की अद्‌भुत क्षमता पर इन दोहों से क्या प्रकाश पड़ता है ? सोदाहरण उत्तर दीजिए।
३. "शृंगारी कवि बिहारी की नीति-निपुणता" विषय पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।

●

भूषण

[१६४३–१७१५ ई० (अनुमानित)]

शिवाजी-स्तवन

सवैया

(१)

जीति लई वसुधा सिगरी घमसान घमण्ड कै बीरन हू की।
'भूषन' भौंसिला छीनि लई जगती उमराव-अमीरन हू की॥
साहि तनै सिवराज की धाकनि छूटि गई धृति धीरन हू की।
मीरन के उर पीर वढ़ी यों जु भूलि गई सुधि पीरन हू की॥

(२)

को कबिराज-विभूपन होत विना कवि साहि-तनै को कहाए ?।
को कबिराज सभाजित होत सभा सरजा के विना गुन गाए ?॥
को कबिराज भुवालन भावत भौंसिला के मन मैं बिनु भाए ?।
को कबिराज चढ़ै गज वाजि सिवाजि कि मौज मही बिनु छाए ?॥

(३)

दै दस पाँच रुपैयन को जग कोउ नरेस उदार कहायो।
'भूषन' कोऊ गरोवन सों भिरि भीमहुँ ते बलवंत गनायो॥
कोटिन दान सिवा सरजा के सिपाहिन साहिन को बिचलायो।
दौलति इन्द्र समान बढ़ी पै खुमान के नेक गुमान न आयो॥

कवित्त

साहि तनै सरजा सिवा के सनमुख,
आप कोऊ बचि जाय न गनीम भुजबल मैं।
'भूषन' भनत भौंसिला की दिल दौर सुनि,
धाक ही मरत म्लेच्छ औरंग के दल मैं।

रातो दिन रोवत रहत यवनी हैं सोक,
परोई रहत दिली आगरे सकल मैं।
कज्जल कलित अँसुवान के उमंग संग,
दूनी होत रोज रंग जमुना के जल मैं॥ ४॥

गजघटा उमड़ी महाघट घटा सी घोर,
भूतल सकल मदजल सौं पटत है।
वेला छाँड़ि उलछत सातौ सिंधु वारि,
मन मुदित महेस मग नाचत कढ़त है॥
'भूपन' वढ़त भौंसिला भुवाल को यों,
तेज जेतो सव वारहौ तरनि मैं वढ़त है।
सिवाजी खुमान दल दौरत जहान पर,
आनि तुरकान पर प्रलै प्रगटत है॥ ५॥

अंझा सी दिन की भई संझा सी सकल दिसि,
गगन लगन रही गरद छवाय है।
चील्ह - गीध - वायस - समूह घन रोर करैं,
ठौर ठौर चारों ओर तम मड़राय है॥
'भूषन' अँदेस देस देस के नरेस गन,
आपुस मैं कहत यों गरब गँवाय है।
वड़ो वड़वा को जितवार चहुँधो को दल,
सरजा सिवा को जानियत इत आय है॥ ६॥

साजि चतुरंग बीर रंग मैं तुरंग चढ़ि,
सरजा सिवाजी जंग जीनन चलत है।
'भूषन' भनत नाद बिहद नगारन के,
नदी नद मद गैंबरन के रलत है॥

ऐल-फैल, खैल-भैल खलक मैं गैल-गैल,
गजन की ठेल पेल सैल उलसत है।
तारा सो तरनि घूरि धारा मैं लगत,
जिमि थारा पर पारा पारावर यों हलत है ॥ ७ ॥

बाने फहराने घहराने घंटा गजन के,
नहीं ठहराने राव राने देस देस के।
नग भहराने ग्राम नगर पराने सुनि,
बाजत निसाने सिवराज जू नरेस के ॥
हाथिन के हौदा उकसाने कुम्भ कुन्जर के,
भौंन कै भजाने अलि छूटे लट केस के।
दल के दरारन ते कमठ करारे फूटे,
केरा केसे पात बिहराने फन सेस के ॥ ८ ॥

प्रेतिनी पिसाचऽरु निसाचर निसाचरिहु,
मिलि मिलि आपुस मैं गावत बधाई है।
भैरो भूत प्रेत भरि भूधर भयंकर से,
जुत्थ जुत्थ जोगिनी जमाति जुरि आई है ॥
किलकि किलकि कै कुतूहल करति,
काली डिमडिम डमरू दिगम्बर बजाई है।
सिवा पूँछैं सिव सों समाज आजु कहाँ चली,
काहू पै सिवा नरेस भृकुटी चढ़ाई है ॥ ९ ॥

ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहन वारी,
ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहाती हैं।
कन्द मूल भोग करैं कन्द मूल भोग करैं,
तीन बेर खातीं सो तौ तीन बेर खाती हैं ॥

भूषन सिथिल अंग भूषन सिथिल अंग,
विजन डुलातीं ते वे विजन डुलाती हैं।
'भूषन' भनत सिवराज वीर तेरे त्रास,
नगन जड़ाति ते वे नगन जड़ाती हैं ॥१०॥

उतरि पलंग ते न दियो है धरा पै पग,
तेऊ सगबग निसि दिन चली जाती हैं।
अति अकुलातीं मुरझाती ना छिपाती गात,
बात ना सोहाती बोल अति अनखाती हैं॥
'भूषन' भनत सिंह साहि के सपूत सिवा,
तेरी धाक सुने अरि नारी बिलखाती हैं।
कोऊ करैं घाती कोऊ रोतीं पीटि छाती,
घरैं तीन बेर खातीं ते वै तीन बेर खाती हैं ॥११॥

आपस की फूट ही ते सारे हिन्दुवान टूटे,
टूट्यो कुल रावन अनीति अति करते।
पैठिगो पाताल बलि बज्रधर-ईरषा तें,
टूट्यो हिरनाक्ष अभिमान चित्त धरते॥
टूट्यौ शिशुपाल बासुदेव जू सों बैर करि,
टूट्यो है महिष दैत्य अधम बिचरते।
राम कर छुवन ते टूट्यो ज्यों महेश चाप,
टूटी पात साही सिवराज संग लरते ॥१२॥

छत्रसाल-स्तवन

कवित्त

राजत अखंड तेज छाजत सुजस,
बड़ो गाजत गयंद दिग्गजन हिय साल को।

जाहि के प्रताप सों मलीन आफताब होत,
ताप तजि दुजन करत बहुख्याल को ॥
साज सजि गज तुरी पैदर कतार दीन्हें,
'भूषन' भनत ऐसो दीन-प्रतिपाल को ।
और राव राजा एक मन मैं न ल्याऊँ अब,
साहू को सराहौं कै सराहौं छत्रसाल को ॥

●

प्रश्न-संकेत

१. शिवाजी की वीरता और चरित्र-शीलता पर संक्षेप में प्रकाश डालिए ।

२. 'वीर रस के कवि के रूप में भूषण की सिद्धियाँ' विषय पर एक लेख लिखिए ।

●

दीनदयाल गिरि

[१८००–१८६५ ई०]

कुण्डलियाँ

लूटे साखिन अपत करि, सिसिर सुसजे वसंत।
दै दल सुमन सुफल किए, सो भल सुजस लसंत ॥
सो भल सुजस लसंत, सकल द्विजगन गुन गावैं।
अमल कमल जल जीव हंस हरि बर सुख पावैं ॥
बरनैं दीनदयाल दुसह दुःख तें द्रुम छूटे।
भे तुरन्त विकँसत अंत अतिसै जे लूटे ॥१॥

तौं लौं है ऋतुराज नहिं, कोकिल काग विचार।
श्याम श्याम रंग एक से, सोहत एकै डार ॥
सोहत एकै डार, काक कछु बाक न बोलै।
ऐंडो रहै निसंक तासु हाँसी करि डोलै ॥
बरनै दीनदयाल नहीं गुन आवत जौं लौं।
काक कोकिला ज्ञान जात नहिं जानो तौ लौं ॥२॥

ग्रीषम तुम ऋतुराज के, पाले दीन सुसाखि।
तिनको दाहत हौ कहा, दावानल में माखि ॥
दावानल में माखि, जारि फिरि राख उड़ाई।
उन दीनन की दसा देखि नहिं दाया आई ॥
बरनै दीनदयाल द्विजन तापत क्यों भीखम।
मित्रहु तुमरे संग चढै वृष दारुन ग्रीषम ॥३॥

सुखिया जे जे तब रहे, लहि ऋतुराज उमंग।
ते अब सब दुखिया भए, हे ग्रीषम तुव संग॥
हे ग्रीषम तुव संग, साखि सर सूखि गये हैं।
विकल कमल द्विजराज सकल छबिहीन भए हैं॥
बरनै दीनदयाल रह्यो जग प्रान जु सुखिया।
सोऊ तपि दुखदानि भयो जो हो अति सुखिया॥४॥

पावस ऋतु सुखदानि जग, तुम सम कोऊ नाहिं।
चपलाजुत घनस्याम नित, बिहरत हैं तव माहिं॥
बिहरत हैं तव माहिं, नीलकंठहु सुखदाई।
अम्बर देत सुहाय द्विजन की करत सहाई॥
बरनै दीनदयाल सकल सुख तो सुखमा बस।
एकै हंस उदास रहैं काहे हे पावस॥५॥

पाई छबि द्विजराज कवि, गुरुवर अम्बर सोह।
दरे दरद हे सरद हिय, करे मोद संदोह॥
करे मोद संदोह, धरे गुन सज्जन केरे।
कुवलय खरे विकास भरे भासैं चहुँ फेरे॥
बरनै दीनदयाल जगत् के तुम सुखदाई।
करिए कहा प्रशंस हंस विलसैं छवि पाई॥६॥

आवत ही हेमन्त तो, कंपन लगो जहान।
कोक कोकनद ये दुखी, अहित भए जग प्रान॥
अहित भए जग प्रान, संग जब ही तुव पाए।
दुखद भए द्विजराज मित्र निज तेज घटाए॥
बरनै दीनदयाल दीन द्विज–पाँति कँपावत।
कामिन को भो मोद एक ही तो जग आवत॥७॥

गाये सुजस समूह तो, कविराजन अवदात।
फैली महिमा रावरी, महिमण्डल मैं ख्यात॥
महिमण्डल में ख्यात, फाग रागन कौं गावैं।
शिशिर सु आप प्रसाद जगत् सब ही सुख पावैं॥
बरनै दीनदयाल कुन्द मिस तो जस छाये।
एक विचारे पात तिने उतपात लगाए॥८॥

चपला संगति तें भयो घन! तव चपल सुभाव।
ता छिन तें बरखन लगे, अमृत को तजि ग्राव॥
अमृत को तजि ग्राव, हनत को तुमैं निवारै।
अहो कुसंग प्रचण्ड काहि जग में न बिगारै॥
बरनै दीनदयाल रहैगि न, है यह सचला।
ता बस अजस न लेहु, देहु चित है चल चपला॥९॥

कोलाहल सुनि खगन के, सरवर जनि अनुरागि।
ये सब स्वारथ के सखा, दुरदिन देहैं त्यागि॥
दुरदिन देहैं त्यागि, तोय तेरो जब जैहैं।
दूरहिं ते तजि आसपास कौऊ नहि ऐहैं॥
बरनै दीनदयाल तोहि मथि करिहैं काहल।
ये चल छल की भूलभूल मति सुनि कोलाहल॥१०॥

आई निसि अलि! कमल तें, क्यों नहीं होत उदास।
नहि ह्वैहै छन एक में, सुखद अन्त की बास॥
सुखद अन्त की वास, नहीं, वरु वंधन पैहै।
ऐहै कुञ्जर जबै सखाजुत तो को खैहै॥
बरनै दीनदयाल भलो बहु लोभ न भाई।
तजि के रस की आस चलौ अब तो निसिआई॥११॥

नाहीं भूलि गुलाव तू, गुनि मधुकर गुञ्जार।
यह बहार दिन चार की, बहुरि कटीली डार॥
बहुरि कटीली डार, होंहिगी ग्रीपम आए।
लुवैं चलैंगी संग अंग सब जैहैं ताए॥
बरनै दीनदयाल फूल जोलौं तौ पाहीं।
रहे घेरि चहुँ फेरि, फेरि अलि ऐहैं नाहीं॥१२॥

तेरे ही विच वस्तु वह, जाको जगत सुगन्ध।
खोजत कहा कुरंग तू, अंवक आछत अन्ध॥
अंवक आछत अंध, कहा दिसि दिसि भरमैं हैं।
अपनी दिसि अवलोक तवै वाको सुख पै है॥
बरनै दीनदयाल मिलै नहिं वाहर हेरे।
अंतर मुख ह्वै ढूँढ सुगन्ध सबै घट तेरे॥१३॥

सौदागर तू समुझिकै, सौदा करि इहि हाट।
जै है उठि दिन दोय मैं, पछितैहै फिरि बाट॥
पछितैहै फिरि वाट, वस्तु कछु भली न लीनी।
यों ही लंपट होय खोय सब संपति दीनी॥
बरनै दीनदयाल कौन विधि ह्वै है आदर।
गए आपने देस विना सौदा सौदागर॥१४॥

गौने को दिन निकट अव, होन चहै पिय मेल।
अजहूँ छुट्यौ न तोहि री, गुड़ियन को यह खेल॥
गुड़ियन को यह खेल, खेलि सब समय विगारे।
सिखे नहीं गुन कछू पिया मन मोहन वारे॥
बरनै दीनदयाल सीख पै है पिय भौने।
एरी भूषन साजि भटू दिन आवत गौने॥१५॥

प्रश्न-संकेत

१. अन्योक्ति किसे कहते हैं ?

२. दीनदयाल गिरि की कुण्डलियों के काव्य-सौष्ठव पर अपने विचार सोदाहरण प्रस्तुत कीजिए ।

३. "दीनदयाल गिरि की सामाजिक तथा प्राकृतिक क्षेत्रों की अनुभूति बड़ी ही गहरी और मार्मिक थी ।" इस कथन की व्याख्या कीजिए ।

●

'हरिऔध'

[१८६९—१९४५ ई०]

गोधूलि

दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु-शिखा पर- थी अब राजती,
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा ॥

विपिन बीच विहंगम-वृन्द का,
कलनिनाद विवर्द्धित था हुआ।
ध्वनिमयी-विविधा विहगावली,
उड़ रही नभ-मण्डल मध्य थी ॥

अधिक और हुई नभ-लालिमा,
दश-दिशा अनुरंजित हो गई।
सकल - पादप - पुञ्ज हरीतिमा,
अरुणिमा विनिमज्जित-सी हुई ॥

झलकने पुलिनों पर भी लगी,
गगन के तल की यह लालिमा।
सरि सरोवर के जल में पड़ी,
अरुणता अति ही रमणीय थी ॥

अचल के शिखरों पर जा चढ़ी,
किरण पादप - शीश - विहारिणी।
तरणि - बिम्ब तिरोहित हो चला,
गगन - मण्डल मध्य शनैः शनैः ॥

ध्वनि-मयी कर के गिरि-कन्दरा,
कलित-कानन केलि निकुञ्ज को।
बज उठी मुरली इस काल ही,
तरणिजा-तट - राजित - कुञ्ज में ॥

क्वणित मंजु-विषाण हुए कई,
रणित शृंग हुए बहु साथ ही।
फिर समाहित - प्रान्तर - भाग में,
सुन पड़ा स्वर धावित-धेनु का ॥

निमिष में वन - व्यापित - वीथिका,
विविध - धेनु - विभूषित हो गई।
धवल - धूसर - वत्स - समूह भी,
विलसता जिनके दल साथ था ॥

जब हुए समवेत शनैः शनैः,
सकल गोप सधेनु समण्डली।
तब चले व्रज - भूषण को लिये,
अति अलंकृत - गोकुल - ग्राम को ॥

गगन - मण्डल में रज छा गई,
दश - दिशा बहु - शब्दमयी हुई।
विशद - गोकुल के प्रति - गेह में,
बह चला वर - स्रोत विनोद का ॥

आँसू

आँख का आँसू ढलकता देख कर,
जी तड़प करके हमारा रह गया।
क्या गया मोती किसी का है बिखर,
या हुआ पैदा रतन कोई नया ॥

ओस की बूँदें कमल से हैं कढ़ी,
या उगलती बूँद है दो मछलियाँ।
या अनूठी गोलियाँ चाँदी मढ़ी,
खेलती हैं खंजनों की लड़कियाँ॥
या जिगर पर जो फफोला था पड़ा,
फूट करके वह अचानक बह गया।
हाय! था-अरमान जो इतना बड़ा,
आज वह कुछ बूँद बनकर रह गया॥

फूल और काँटा

हैं जनम लेते जगह में एकही,
एक ही पौधा उन्हें है पालता।
रात में उन पर चमकता चाँद भी,
एक ही सी चाँदनी है डालता॥
मेंह उनपर है बरसता एक सा,
एक सी उन पर हवायें हैं बहीं।
पर सदा ही यह दिखाता है हमें,
ढंग उनके एक-से होते नहीं॥
छेद कर काँटा किसी की उँगलियाँ,
फाड़ देता है किसी का वर बसन।
प्यार डूबीं तितलियों का पर कतर,
भौंर का है बेध देता श्याम तन॥
फूल ले कर तितलियों को गोद में,
भौंर को अपना अनूठा रस पिला।
निज सुगन्धों औ निराले रंग से,
है सदा देता कली जी की खिला॥

है खटकता एक सब की आँख में,
दूसरा है सोहता सुर-सीस पर।
किस तरह कुल की बड़ाई काम दे,
जो किसी में हो बड़प्पन की कसर॥

भारत के नवयुवक

जाति-धन प्रिय नव-युवक-समूह, विमल मानस के मंजु मराल।
देश के परम मनोरम रत्न, ललित भारत-ललना के लाल॥
लोक की लाखों आँखें आज, लगी हैं तुम लोगों की ओर।
भरी उनमें है करुणा भूरि, लालसामय है ललकित कोर॥
उठो, लो आँखें अपनी खोल विलोको अवनी तल का हाल।
अनालोकित में भर आलोक, करो कमनीय कलंकित भाल॥
भरे उर में जो अभिनय ओज, सुना दो वह सुन्दर झनकार।
ध्वनित हो जिससे मानस-यंत्र, छेड़ दो उस तंत्री का तार॥
रगों में बिजली जावे दौड़, जगे भारत-भूतल का भाग।
प्रभावित धुन से हो भरपूर, उमग गाओ वह रोचक राग॥
हो सके जिससे सुघटित जाति, सुकंठों में गूँजे वह तान।
भाव जिसमें हों भरे सजीव, करो ऐसे गीतों का गान॥
कर विपुल साहस वज्र-प्रहार, विफलता-गिरि को कर दो चूर।
जगा दो सफल साधना-ज्योति, विविध बाधातम कर दो दूर॥
गगन में जा, भूतल में घूम, निकालो कार्य-सिद्धि की राह।
अचल को विचलित कर दो भूरि, रोक दो वारिधि-वारि-प्रवाह॥
धूल में क्यों मिलती है धाक, बचा लो बची बचाई आन।
मचा दो दोषदलन की धूम, मसल दो दुख को मशक-समान॥
लाभ-हित देश-प्रेम-रवि-ज्योति, आँख लो निज भावों की खोल।
त्याग करके निजता-अभिमान, जाति-ममता का समझो मोल॥

देश के हित निज-जाति-निमित्त, अतुल हो तुम लोगों का त्याग।
अवनि-जन-अनुरंजन के हेतु, बनो तुम मूर्तिमान अनुराग॥
अनाथों के कहलाओ नाथ, हरो अबला-जन-दुख अविलंब।
सबलता करो जाति को दान, अबल-जन के होकर अवलंब॥
बनो असहायों के सर्वस्व, अबुध-जन की अनुपम अनुभूति।
वृद्ध जन के लोचन की ज्योति, अकिंचन-जन की विपुल विभूति॥
सरस रुचि रुचिर कंठ के हार, सुजीवन-नव-घन-मत्त-मयूर।
लोक-भावुकता-तन शृङ्गार, सुजनता-भव्य-भाल-सिंदूर॥
भरो भूतल में कीर्तिकलाप, दिखा भारतजननी से प्यार।
करो पूजन उनका पद-कंज, बना सुरभित सुमनों का हार॥

●

प्रश्न-संकेत

१. गोधूलि वेला का सौष्ठव अपने शब्दों में व्यक्त कीजिए।

२. 'आंसू' एवं 'फूल और कांटा' में कवि क्या कहना चाहता है ?

३. भारत के नवयुवकों के लिए कवि का संदेश क्या है ?

४. 'हरिऔध' जी की काव्य-कला पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

●

मैथिलीशरण गुप्त

[१८८६-१९६४ ई०]

उर्मिला

(१)

दोनों ओर प्रेम पलता है।
सखि, पतंग भी जलता है हा ! दीपक भी जलता है !

सीस हिलाकर दीपक कहता—
'बन्धु, वृथा ही तू क्यों दहता ?'
पर पतंग पड़कर ही रहता।
कितनी विह्वलता है !
दोनों ओर प्रेम पलता है।

बच कर हाय ! पतंग मरे क्या ?
प्रणय छोड़कर प्राण धरे क्या ?
जले नहीं तो मरा करे क्या ?
क्या यह असफलता है ?
दोनों ओर प्रेम पलता है।

कहता है पतंग मन मारे—
'तुम महान, मैं लघु, पर प्यारे
क्या न मरण भी हाथ हमारे ?
शरण किसे छलता है ?
दोनों ओर प्रेम पलता है।

दीपक के जलने में आली,
फिर भी है जीवन की लाली।
किंतु पतंग-भाग्य-लिपि काली,
किसका वश चलता है ?
दोनों ओर प्रेम पलता है।

जगतो वणिग्वृत्ति है रखती,
उसे चाहती जिससे चखती।
काम नहीं, परिणाम निरखती,

मुझे यही खलता है।
दोनों ओर प्रेम पलता है।

शुभ-कामना

(१)

मानस-भवन में आर्य्यजन, जिनकी उतारें आरती,
भगवान! भारतवर्ष में, गूँजे हमारी भारती।
हो भद्रभावोद्भाविनी यह भारती हे भगवते,
सीतापते! सीतापते! गीतामते! गीतामते!

(२)

सबकी नसों में पूर्वजों का पुण्य रक्त प्रवाह हो,
गुण, शील, साहस, बल तथा सबमें भरा उत्साह हो।
सबके हृदय में सर्वदा समवेदना की दाह हो,
हमको तुम्हारी चाह हो, तुमको हमारी चाह हो॥

(३)

विद्या, कला, कौशल्य में सबका अटल अनुराग हो,
उद्योग का उन्माद हो, आलस्य-अघ का त्याग हो।
सुख और दुःख में एक-सा सब भाइयों का भाग हो,
अंतःकरण में गूँजता राष्ट्रीयता का राग हो॥

(४)

कठिनाइयों के मध्य अध्यवसाय का उन्मेष हो,
जीवन सरल हो, तन सबल हो, मन विमल सविशेष हो।
छूटे कदापि न सत्य-पथ निज देश हो कि विदेश हो,
अखिलेश का आदेश हो जो; बस वही उद्देश्य हो॥

(५)

उपलक्ष्य के पीछे कभी विगलित न जीवन लक्ष्य हो,
जब तक रहें ये प्राण तन में पुण्य का ही पक्ष हो।
कर्त्तव्य एक न एक पावन नित्य नेत्र-समक्ष हो,
सम्पत्ति और विपत्ति में विचलित कदापि न वक्ष हो॥

(६)

उस वेद के उपदेश का सर्वत्र ही प्रस्ताव हो,
सौहार्द और मतैक्य हो, अविरुद्ध मन का भाव हो।
सब इष्ट फल पावें परस्पर प्रेम रखकर सर्वथा,
निज यज्ञ-भाग समानता से देव लेते हैं यथा॥

मातृभूमि

नीलांबर परिधान हरित पट पर सुन्दर है,
सूर्य्य-चंद्र युग मुकुट, मेखला रत्नाकर है।
नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारा-मंडल है,
बंदीजन खग-वृन्द, शेष-फन सिंहासन है।
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेष की!
हे मातृभूमि, तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की।

मृतक समान अशक्त, अवश, आँखों को मीचे,
गिरता हुआ विलोक गर्भ से हमको नीचे।
करके जिसने कृपा हमें अवलंब दिया था,
लेकर अपने अतुल अंक में त्राण किया था।
जो जननी का भी सर्वदा, थी पालन करती रही।
तू क्यों न हमारी पूज्य हो? मातृभूमि मातामही!

जिसकी रज में लोट-लोट कर बड़े हुए हैं,
घुटनों के बल सरक सरक कर खड़े हुए हैं।
परमहंस-सम बाल्य काल में सब सुख पाए,
जिसके कारण 'धूलि भरे हीरे' कहलाए।

हम खेले-कूदे हर्षयुक्त जिसकी प्यारी गोद में,
हे मातृभूमि, तुझको निरख मग्न क्यों न हों मोद में।

पालन-पोषण और जन्म का कारण तू ही,
वक्षस्थल पर हमें कर रही धारण तू ही।
अभ्रंकष प्रासाद और ये महल हमारे,
बने हुए हैं अहो ! तुझी से तुझ पर सारे।

हे मातृभूमि, हम जब कभी तेरी शरण न पाएँगे,
बस, तभी प्रलय के पेट में सभी लीन हो जाएँगे।

हमें जीवनाधार अन्न तू ही देती है,
बदले में कुछ नहीं किसी से तू लेती है।
श्रेष्ठ एक से एक विविध द्रव्यों के द्वारा,
पोषण करती प्रेम-भाव से सदा हमारा।

हे मातृ-भूमि, उपजें न जो तुझसे कृषि-अंकुर कभी,
जो तड़प-तड़प कर जल मरें जठरानल में हम सभी।

पाकर तुझसे सभी सुखों को हमने भोगा,
तेरा प्रत्युपकार कभी क्या हमसे होगा ?
तेरी ही यह देह, तुझी से बनी हुई है,
बस, तेरे ही सुरस-सार से सनी हुई है।

फिर अन्त समय तू ही इसे अचल देख अपनायगी,
हे मातृभूमि, यह अन्त में तुझमें ही मिल जायगी।

जिन मित्रों का मिलन मलिनता को है खोता,
जिस प्रेमी का प्रेम हमें मुददायक होता।
जिन स्वजनों को देख हृदय हर्षित हो जाता,
नहीं टूटता कभी जन्म भर जिनसे नाता।
उन सब में तेरा सर्वदा व्याप्त हो रहा तत्व है,
हे मातृभूमि, तेरे सदृश, किसका महा महत्व है?

निर्मल तेरा नीर अमृत के सम उत्तम है,
शीतल-मंद-सुगन्ध-पवन हर लेता श्रम है।
षड्ऋतुओं का विविध दृश्ययुत अद्भुत क्रम है,
हरियाली का फर्श नहीं मखमल से कम है।
शुचि सुधा सींचता रात में तुझ पर चन्द्र प्रकाश है,
हे मातृभूमि, दिन में तरणि करता तम का नाश है।

सुरभित, सुन्दर, सुखद सुमन तुझ पर खिलते हैं,
भाँति भाँति के सरस, सुधोपम फल मिलते हैं।
औषधियाँ हैं प्राप्त एक से एक निराली,
खानें शोभित कहीं धातु-वर रत्नों वाली।
जो आवश्यक होते हमें, मिलते सभी पदार्थ हैं,
हे मातृभूमि, वसुधा-धरा तेरे नाम यथार्थ हैं।

दीख रही है कहीं दूर तक शैल-श्रेणी,
कहीं घनावलि बनी हुई है तेरी वेणी।
नदियाँ पैर पखार रही हैं बनकर चेरी,
पुष्पों से तरु-राजि कर रही पूजा तेरी।
मृदु मलय-वायु मानो तुझे चन्दन चारु चढ़ा रही,
हे मातृभूमि, किसका न तू सात्विक भाव बढ़ा रही?

क्षमामयी, तू दयामयी है, क्षेत्रमयी है,
सुधामयी, वात्सल्यमयी, तू प्रेममयी है,
विभवशालिनी, विश्वपालिनी, दुखहर्त्री है,
भयनिवारिणी, शान्तिकारिणी, सुखकर्त्री है।

हे शरणदायिनी देवि तू, करती सबका त्राण है।
हे मातृभूमि, संतान हम, तू जननी तू प्राण है।

आते ही उपकार याद हे माता ! तेरा,
हो जाता मन मुग्ध भक्ति-भावों का प्रेरा।
तू पूजा के योग्य, कीर्त्ति तेरी हम गावें,
मन होता है तुझे उठाकर शीश चढ़ावें।

वह शक्ति कहाँ, हा ! क्या करें, क्यों हमको लज्जा न हो ?
हम मातृभूमि, केवल तुझे शीश झुका सकते अहो !

कोई व्यक्ति-विशेष नहीं तेरा अपना है,
जो यह समझे हाय ! देखता वह सपना है।
तुझको सारे जीव एक-से ही प्यारे हैं,
कर्मों के फल मात्र यहाँ न्यारे-न्यारे हैं।

हे मातृ भूमि तेरे निकट सबका सम सम्बन्ध है,
जो भेद मानता वह अहा लोचन-युत भी अन्ध है।

जिस पृथिवी में मिले हमारे पूर्वज प्यारे,
उससे हे भगवान ! कभी हम रहें न न्यारे।
लोट लोट कर वहीं हृदय को शांत करेंगे,
उसमें मिलते समय मृत्यु से नहीं डरेंगे।

उस मातृभूमि की धूलि में जब पूरे सन जायँगे,
होकर भव-बंधन-मुक्त हम आत्म रूप बन जायँगे।

प्रश्न-संकेत

१. कवि ने मातृभूमि के सम्बन्ध में जो उद्‌गार व्यक्त किए हैं, उन्हें अपने शब्दों में व्यक्त कीजिए।

२. 'शुभ कामना' शीर्षक कविता में कवि ने भारतीयों के लिए किन-किन वरदानों की कामना की है ?

३. 'राष्ट्रकवि' के रूप में गुप्तजी ने हिन्दी और हिन्द देश की जो सेवा की है, उसका संक्षिप्त परिचय दीजिए।

जयशंकर 'प्रसाद'

[१८८९—१९३७ ई०]

लाज भरा सौन्दर्य

तुम कनक किरन के अंतराल में,
लुक-छिप कर चलते हो क्यों ?

नत-मस्तक गर्व वहन करते,
यौवन के घन रस-कन ढरते,
हे लाज भरे सौन्दर्य !
बता दो मौन बने रहते हो क्यों ?

अधरों के मधुर कगारों में,
कल-कल ध्वनि की गुञ्जारों में,
मधु सरिता सी यह हँसी,
तरल अपनी पीते रहते हो क्यों ?

बेला विभ्रम की बीत चली,
रजनीगंधा की कली खिली—
अब सान्ध्य मलय-आकुलित,
दुकूल कलित हो,यों छिपते हो क्यों?

भारतवर्ष

हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार ।
उषा ने हँस अभिनन्दन किया और पहनाया हीरक हार ॥

जगे हम, लगे जगाने विश्व, लोक में फैला फिर आलोक।
व्योम-तम-पुंज हुआ सब नष्ट, अखिल संसृति हो उठी अशोक ॥

विमल वाणी ने वीणा ली कमल-कोमल कर में संप्रीत।
सप्त स्वर सप्तसिंधु में उठे, छिड़ा तब मधुर साम संगीत ॥

बचा कर बीज-रूप से सृष्टि, नाव पर झेल प्रलय का शीत।
अरुण-केतन लेकर निज हाथ वरुण पथ में हम बढ़े अभीत ॥

सुना है दधीचि का वह त्याग, हमारा जातीयता विकास।
पुरंदर ने पवि से है लिखा अस्थि-युग का मेरे इतिहास ॥

सिंधु-सा विस्तृत और अथाह, एक निर्वासित का उत्साह।
दे रही अभी दिखाई भग्न, मग्न रत्नाकर में वह राह ॥

धर्म का लेकर के जो नाम हुआ करती बलि, कर दो बंद।
हमी ने दिया शांति-संदेश, सुखी होते देकर आनन्द ॥

विजय केवल लोहे की नहीं, धर्म की रही धरा पर धूम।
भिक्षु होकर रहते सम्राट दया दिखते घर-घर धूम ॥

यवन को दिया दया का दान, चीन को मिली धर्म की दृष्टि।
मिला था स्वर्ण-भूमि को रत्न, शील की सिंहल को भी सृष्टि ॥

किसी का हमने छीना नहीं, प्रकृति का रहा पालना यहीं।
हमारी जन्मभूमि थी यही, कहीं से हम आए थे नहीं ॥

जातियों का उत्थान-पतन, आँधियाँ, झड़ी, प्रचंड समीर।
खड़े देखा, झेला हँसते, प्रलय में पले हुए हम वीर ॥

चरित के पूत, भुजा में शक्ति, नम्रता रही सदा सम्पन्न।
हृदय के गौरव में था गर्व, किसी को देख न सके विपन्न ॥

हमारे संचय में था दान, अतिथि थे सदा हमारे देव।
वचन में सत्य, हृदय में तेज, प्रतिज्ञा में रहती थी टेव ॥

वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है, वैसा ज्ञान।
वही है शांति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य संतान॥
जियें तो सदा उसी के लिए, यही अभिमान रहे, यह हर्ष।
निछावर करदें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष॥

बीती विभावरी जाग री

बीती विभावरी जाग री!
अम्बर पनघट में डुबो रही—
तारा-घट ऊषा नागरी।

खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अञ्चल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लाई—
मधु मकुल नवल रस गागरी।

अधरों में राग अमन्द पिये,
अलकों में मलयज बन्द किये—
तू अब तक सोई है आली।
आँखों में भरे विहाग री!

वरुणा की कछार

अरी वरुणा की शान्त कछार!
तपस्वी के विराग की प्यार!

सतत व्याकुलता के विश्राम, अरे ऋषियों के काननकुञ्ज।
जगत नश्वरता के लघुत्राण, लता, पादप, सुमनों के पुञ्ज॥
तुम्हारी कुटियों में चुपचाप, चल रहा था उज्ज्वल व्यापार।
स्वर्ग की वसुधा से शुचि संधि, गूँजता था जिससे संसार॥

अरी वरुणा की शान्त कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !

तुम्हारे कुञ्जों में तल्लीन, दर्शनों के होते थे वाद।
देवताओं के प्रादुर्भाव, स्वर्ग के स्वप्नों के संवाद ॥
स्निग्ध तरु की छाया में बैठ परिषदें करती थीं सुविचार—
भाग कितना लेगा मस्तिष्क, हृदय का कितना है अधिकार ?

अरी वरुणा की शान्त कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !

छोड़ कर पार्थिव भोग विभूति, प्रेयसी का दुर्लभ वह प्यार।
पिता का वक्ष भरा वात्सल्य, पुत्र का शैशव-सुलभ दुलार ॥
दुःख का करके सत्य निदान, प्राणियों का करने उद्धार।
सुनाने आरण्यक संवाद तथागत आया तेरे द्वार ॥

अरी वरुणा की शान्त कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !

मुक्ति जल की वह शीतल बाढ़, जगत की ज्वाला करती शांत।
तिमिर का हरने को दुःख भार, तेज अमिताभ अलौकिक कांत ॥
देव-कर से पीड़ित विक्षुब्ध, प्राणियों से कह उठा पुकार।
तोड़ सकते हो तुम भव-बन्ध, तुम्हें है यह पूरा अधिकार ॥

अरी वरुणा की शान्त कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !

छोड़कर जीवन के अतिवाद मध्य पथ से लो सुगति सुधार।
दुःख का समुदय उसका नाश, तुम्हारे कर्मों का व्यापार ॥
विश्व-मानवता का जयघोष, यहीं पर हुआ जलद स्वर मन्द्र।
मिला था वह पावन आदेश, आज भी साक्षी हैं रवि-चन्द्र ॥

अरी वरुणा की शान्त कछार!
तपस्वी के विराग की प्यार!

तुम्हारा वह अभिनन्दन दिव्य, और उस यश का विमल प्रचार।
सकल वसुधा को दे संदेश, धन्य होता है बारम्बार॥
आज कितनी शताब्दियों बाद, उठी ध्वंसों में वह झंकार।
प्रतिध्वनि जिसकी सुने दिगन्त, विश्व-वाणी का बने विहार॥



प्रश्न-संकेत

१. "प्रसाद प्रधानतः प्रेम और यौवन के कवि हैं"—इस कथन पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

२. छायावाद क्या है? छायावादी कवि के रूप में प्रसादजी की उपलब्धियों पर एक लेख लिखिए।

३. 'भारतवर्ष' शीर्षक कविता में कवि ने भारत की किन विशेषताओं का उल्लेख किया है?

४. 'वरुणा की शान्त कछार' को कवि ने 'तपस्वी के विराग की प्यार' क्यों कहा है? गौतम बुद्ध के संदेश क्या थे?



माखनलाल चतुर्वेदी

'एक भारतीय आत्मा'

[१८८८—१९६७ ई०]

पुष्प की अभिलाषा

चाह नहीं मैं सुरबाला के
गहनों में गूँथा जाऊँ।
चाह नहीं, प्रेमी - माला में,
बिंध प्यारी को ललचाऊँ॥

चाह नहीं, सम्राटों के शव,
पर हे हरि डाला जाऊँ।
चाह नहीं, देवों के सिर पर,
चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ॥

मुझे तोड़ लेना बनमाली!
उस पथ में देना तुम फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने,
जिस पथ जावें वीर अनेक॥

मेरा उपास्य

"लो आया"—उस दिन जब मैंने सन्ध्या वन्दन बन्द किया।
क्षीण किया सर्वस्व कार्य के उज्ज्वल क्रम को मन्द किया॥
द्वार बन्द होने ही को थे,—वायु वेग बलशाली था।
पापी हृदय कहाँ? रसना में रटने को वनमाली था॥

अर्द्ध रात्रि, विद्युति-प्रकाश, घन गर्जन करता घिर आया।
लो जो बीते सब सहूँ—कहूँ क्या, कौन कहेगा—"लो आया"॥
"लो आया"—छप्पर टूटा है वातायन दीवारें हैं।
पल पल में विह्वल होता हूँ, कैसी निर्दय मारें हैं॥

मैं गिर गया, कहा—क्या तू भी भूल गया ममता माया।
सुनता था दुखिया पाता है—तू कहता है—"लो आया"॥
"लो आया"—हा! वज्र-वृष्टि है, निर्बल! सहले किसी प्रकार।
मेरी दीन पुकार, धन्य है उचित तुम्हारी निर्दय! मार॥

आराधना, प्रार्थना, पूजा, प्रेमांजली, विलाप कलाप।
"तेरा हूँ, तेरे चरणों में हूँ"—पर कहाँ पसीजे आप॥
सहता गया—जिगर के टुकड़ों का बल,—पाया, हाँ पाया।
आशा थी—वह अब कहता है—अब कहता है—"लो आया"॥

"लो आया"—हा हन्त! त्याग कर दुखिया ने हुँकार किया।
सब सहने जीवित रहने के लिए हृदय तैयार किया॥
साथ दिया प्यारे अंगों ने लो कुछ शीश उठा पाया।
जलते ही पर शीतल बूँदें! बिजली ने पथ चमकाया॥

पर यह क्या? झोंकों पर झोंके—उहँ बस बढ़ कुछ झुँझलाया।
थर्राया अकुलाया—हाँ सब कुछ दिखला लो—"लो आया"॥
हाथ पाँव हिल पड़े, हुआ हाँ सन्ध्या बन्दन बन्द हुआ।
ईंटें पत्थर रचता हूँ—स्वाधीन हुआ! स्वच्छन्द हुआ॥

टूटी, फूटी, कुटी,—पधारो!—नहीं, यहाँ मेरे आवें।
मेरी, मेरी, मेरी कह प्यारे चरणों से चमकावें॥
दीन, दुखी, दुर्बल, सबलों का विजयी दल कुछ कर पाया।
नभ फट पड़ा—उजेला छाया,—गूँज उठा—"लो, आया"॥

प्रश्न-संकेत

१. पुष्प की अभिलाषाएँ क्या थीं ?

२. 'मेरा उपास्य' का सन्देश क्या है ? अपने शब्दों में लिखिए।

३. "श्री चतुर्वेदीजी हमारे राष्ट्र कवि हैं। इनकी रचनाएँ मानो नवीन रक्त से लिखी गई हैं"—इस कथन की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।



सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

[१८९६—१९६१ ई०]

गीत

अलि घिर आए घन पावस के।

लख ये काले-काले बादल,
नील-सिन्धु में खुले कमल-दल,
हरित ज्योति, चपला अति चंचल,
सौरभ के, रस के—
अलि, घिर आए घन पावस के।

द्रुम समीर-कम्पित थर थर थर,
झरतीं धाराएँ झर झर झर,
जगती के प्राणों में स्मर-सर,
बेध गए, कसके—
अलि, घिर आए घन पावस के।

हरियाली ने, अलि हर ली श्री
अखिल विश्व के नव यौवन की,
मन्द-गन्ध-कुसमों में लिख दी,
लिपि जय की हँसके—
अलि, घिर आए घन पावस के।

छोड़ गए गृह जब से प्रियतम,
बीते अपलक दृश्य मनोरम,
क्या मैं हूँ ऐसी ही अक्षम,
क्यों न रहे बसके—
अलि, घिर आए घन पावस के।

सन्ध्या-सुन्दरी

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या-सुन्दरी परी-सी
धीरे धीरे धीरे,
तिमिरांचल में चंचलता का नहीं कहीं आभास,
मधुर मधुर हैं दोनों उसके अधर,—
किन्तु जरा गम्भीर,
नहीं है उनमें हास-विलास।
हँसता है तो केवल तारा एक
गुँथा हुआ उन घुँघराले काले-काले बालों से,
हृदय-राज्य की रानी का वह करता है अभिषेक।
अलसता की-सी लता
किन्तु कोमलता की वह कली,
सखी-नीरवता के कन्धे पर डाले बाँह,
छाँह-सी अम्बर-पथ से चली।
नहीं बजती उसके हाथों में कोई वीणा,
नहीं होता कोई अनुराग-राग-आलापे,
नूपुरों में भी रुन-झुन रुन-झुन नहीं,
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द-सा "चुप चुप चुप"
है गूँज रहा सब कहीं—
व्योम मण्डल में जगतीतल में—
शान्त सरोवर पर उस अमल कमलिनी-दल में—
सौन्दर्य-गर्विता-सरिता के अति विस्तृत वक्षःस्थल में—
धीर-वीर-गम्भीर शिखर पर हिमगिरि-अटल-अचल में—

उत्ताल तरंगाघात—प्रलय-घनगर्जन-जलधि-प्रबल में—
क्षिति में—जल में—नभ में—अनिल-अनल में—
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द-सा "चुप चुप चुप"
है गूँज रहा सब कहीं,—
और क्या है ? कुछ नहीं।
मदिरा की वह नदी बहाती आती,
थके हुए जीवों को वह सस्नेह
प्याला वह एक पिलाती।
सुलाती उन्हें अंक पर अपने
दिखलाती फिर विस्मृति के वह अगणित मीठे सपने।
अर्द्धरात्रि की निश्चलता में हो जाती जब लीन,
कवि का बढ़ जाता अनुराग,
विरहाकुल कमनीय कंठ से
आप निकल पड़ता तब एक विहाग।

विधवा

वह इष्ट देव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीप-शिखा-सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है।
षड् ऋतुओं का शृंगार
कुसुमित कानन में नीरव-पद-संचार,
अमर कल्पना में स्वच्छन्द बिहार—
व्यथा की भूली हुई कथा है।

उसका एक स्वप्न अथवा है।
उसके मधु-सुहाग का दर्पण
जिसमें देखा था उसने
वस एक बार बिम्बित अपना जीवन-धन,
अबल हाथों का एक सहारा—
लक्ष्य जीवन का वह प्यारा ध्रुवतारा—
दूर हुआ वह बहा रहा है
उस अनन्त पथ से करुणा की धारा।
हैं करुणा-रस से पुलकित इसकी आँखें,
देखा तो भींगी मन-मधुकर की पाँखें,
मृदु रसावेश में निकला जो गुंजार
वह और न था कुछ, था बस हाहाकार।
उस करुणा की सरिता के मलिन पुलिन पर,
लघु टूटी हुई कुटी का मौन बढ़ाकर
अति छिन्न हुए भीगे अञ्चल में मन को—
दुख-रूखे-सूखे अधर-त्रस्त चितवन को,
वह दुनियाँ की नजरों से दूर बचाकर,
रोती है अस्फुट स्वर में;
दुख सुनता है आकाश धीर,
निश्चल समीर,
सरिता की वे लहरें भी ठहर-ठहरकर।
कौन उसको धीरज दे सके ?
दुःख का भार कौन ले सके ?
यह दुःख वह जिसका नहीं कुछ छोर है,
दैव अत्याचार कैसा घोर और कठोर है!
क्या सभी पोंछें किसी के अश्रुजल ?
या किया करते रहे सबको विकल ?

ओस-कण-सा पल्लवों से झर गया।
जो अश्रु, भारत का उसी से सर गया।

●

प्रश्न-संकेत

१. "निरालाजी ने रूढ़िमुक्त होकर अपनी बात कही है।"—यह बात निरालाजी के काव्य के विषय में कहाँ तक लागू होती है ?
२. सान्ध्यकालीन सौन्दर्य का वर्णन करते हुए एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।
३. 'विधवा' शीर्षक कविता की समीक्षा कीजिए।

●

सुमित्रानन्दन पंत

[१६००-१६७७ ई०]

मर्म-व्यथा

प्राणों में चिर व्यथा बाँध दी !
क्यों चिर-दग्ध हृदय को तुमने
वृथा प्रणय की अमर साध दी !

पर्वत को जल, दारु को अनल,
वारिद को दी विद्युत् चञ्चल,
फूल को सुरभि, सुरभि को विकल,
उड़ने की इच्छा अबाध दी !

हृदय दहन रे हृदय दहन,
प्राणों की व्याकुल व्यथा गहन !
यह सुलगेगी, होगी न सहन,
चिर-स्मृति की श्वास-समीर साथ दी !

प्राण गलेंगे, देह जलेगी,
मर्म-व्यथा की कथा ढलेगी,
सोने-सी तप कर निकलेगी,
प्रेयसि-प्रतिमा ममता अगाध दी !
प्राणों में चिर व्यथा बाँध दी !

सन्ध्या

कहो, तुम रूपसि कौन ?

व्योम से उतर रहीं चुपचाप
छिपी निज छाया-छवि में आप,
सुनहला फैला केश-कलाप

मधुर, मंथर, मृदु, मौन !

मूँद अधरों में मधुपालाप,
पलक में निमिष, पदों में चाप,
भाव-सकुल, बंकिम भ्रू-चाप,

मौन, केवल तुम मौन !

ग्रीव तिर्यक, चम्पक-द्युति गात,
नयन मुकुलित, नत मुख जलजात,
देह छबि-छाया में दिन रात,

कहाँ रहती तुम कौन ?

अनिल-पुलकित स्वर्णांचल लोल,
मधुर नूपुर-ध्वनि खग-कुल-रोल,
सीप-से जलदों के पर खोल,

उड़ रही नभ में मौन !

लाज से अरुण-अरुण सुकपोल,
मन्दिर अधरों की सुरा अमोल,
बने पावस-घन स्वर्ण-हिंदोल,

कहो, एकाकिनि, कौन ?
मधुर, मंथर तुम मौन !

मौन-निमन्त्रण

स्तब्ध-ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु-सा नादान,
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न-अजान;
न जाने, नक्षत्रों से कौन
निमन्त्रण देता मुझको मौन !

सघन-मेघों का भीमाकाश
गरजता है जब तमसाकार,
दीर्घ भरता समीर निःश्वास,
प्रखर झरती जब पावस-धार;
न जाने, तपक तड़ित में कौन
मुझे इंगित करता तव मौन !

देख वसुधा का यौवन-भार
गूँज उठता है जब मधुमास,
विधुर उर के-से मृदु उद्गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास;
न जाने सौरभ के मिस कौन
संदेशा मुझे भेजता मौन !

न जाने, कौन अये छबिमान !
जान मुझको अबोध, अज्ञान,
सुझाते हो तुम पथ अनजान,
फूँक देते छिद्रों में गान;
अहे सुख-दुख के सहचर मौन !
नहीं कह सकतो तुम हो कौन !

बापू के प्रति

तुम मांस-हीन, तुम रक्त-हीन,
हे अस्थि-शेष ! तुम अस्थिहीन,
तुम शुद्ध बुद्ध आत्मा केवल,
हे चिर-पुराण, हे चिर-नवीन !
तुम पूर्ण इकाई जीवन की,
जिसमें असार भव-शून्य लीन,
आधार अमर होगी जिसपर
भावी की संस्कृति समासीन ॥१॥

तुम माँस, तुम्हीं हो रक्त-अस्थि–
निर्मित जिनसे नव-युग का तन,
तुम धन्य ! तुम्हारा निःस्व त्याग,
है विश्व भोग का वर साधन।
इस भस्म-काम तन की रज से
जग पूर्ण-काम नव-जग-जीवन,
बीनेगा सत्य अहिंसा के
ताने-बानों में मानवपन ॥२॥

सदियों का दैन्य – तमिस्र – तून,
धुन तुमने कात प्रकाश सूत,
हे नग्न ! नग्न पशुता ढँक दी–
बुन नव संस्कृति मनुजत्व पूत।
जग पीड़ित छूतों से प्रभूत,
छू अमृत स्पर्श से, हे अछूत !
तुमने पावन कर मुक्त किए
मृत संस्कृतियों के विकृत भूत ॥३॥

सुख भोग खोजने आते सब,
आये तुम करने सत्य खोज;
जग की मिट्टी के पुतले जन,
तुम आत्मा के, मन के मनोज।
जड़ता, हिंसा, स्पर्धा में भर
चेतना, अहिंसा, नम्र, ओज,
पशुता का पंकज बना दिया
तुमने मानवता का सरोज ॥४॥

सहयोग सिखा शासित जन को
शासन का दुर्वह हटा भार;
होकर निरस्त्र सत्याग्रह से
रोका मिथ्या का वन प्रहार।
बहु भेद विग्रहों में खोई
ली जीर्ण जाति क्षय से उबार,
तुमने प्रकाश को कह प्रकाश
औ' अंधकार को अंधकार ॥५॥

उर के चरखे में कात सूक्ष्म
युग-युग का विषय–जनित विषाद;
गुंजित कर दिया गगन जग का
भर तुमने आत्मा का निनाद
रँग रँग खद्दर के सूत्रों में
नवजीवन आशा, स्पृहा, ह्लाद,
मानवी कला के सूत्रधार
हर दिया यंत्र-कौशल प्रवाद ॥६॥

●

प्रश्न-संकेत

१. 'निराला' और पन्तजी के साम्य वर्णनों की परस्पर सोदाहरण तुलना कीजिए।

२. बापू के प्रति कवि द्वारा व्यक्त विचारों को अपने शब्दों में लिखिए।

३. "पन्तजी प्रकृति के सुकुमार कवि हैं"—इस कथन की पुष्टि कीजिए।

महादेवी वर्मा

[१९०७-१९८७ ई०]

गीत

(१)

मैं नीरभरी दुख की बदली !
स्पन्दन में चिर निस्पन्द बसा,
क्रन्दन में आहत विश्व हँसा,
नयनों में दीपक से जलते
पलकों में निर्झरिणी मचली,
मेरा पग - पग संगीतभरा,
श्वासों से स्वप्न - पराग झरा,
नभ के नव रँग बुनते दुकूल,
छाया में मलय बयार पली।
मैं क्षितिज-भ्रुकुटि पर घिर धूमिल,
चिन्ता का भार बनी अविरल,
रज-कण पर जल-कण हो बरसी
नवजीवन - अंकुर बन निकली !
पथ को न मलिन करता आना
पद - चिह्न न दे जाता जाना,
सुधि मेरे आगम की जग में
सुख की सिहरन हो अन्त खिली।
विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना इतिहास यही
उमड़ी कल थी मिट आज चली।

(२)

यह मन्दिर का दीप इसे नीरव जलने दो !

रजत-शंख-घड़ियाल स्वर्ण-वंशी-वीणा स्वर,
गये आरती-वेला को शत-शत लय से भर,
जब था कलकंठों का मेला,
विहँसे उपल तिमिर था खेला,
अब मन्दिर में इष्ट अकेला,
इसे अजिर का शून्य जलाने को गलने दो !

चरणों से चिन्हित अलिंद की भूमि सुनहली,
प्रणत शिरों के अङ्क लिये चन्दन की दहली,
झरे सुमन बिखरे अक्षत सित,
धूप अर्घ्य नैवेद्य अपरिमित,
तम में सब होंगे अन्तर्हित,
सबकी अर्चित कथा इसी लौ में पलने दो !

पल के मनके फेर पुजारी विश्व सो गया,
प्रतिध्वनि का इतिहास प्रस्तरों बीच खो गया,
साँसों की समाधि, सा जीवन,
मसि-सागर-सा पन्थ गया बन,
रुका मुखर कण-कण का स्पन्दन,
इस ज्वाला में प्राण रूप फिर से ढलने दो !

झंझा है दिग्भ्रान्त, रात की मूर्छा गहरी,
आज पुजारी बने, ज्योति का यह लघु प्रहरी,
जब तक लौटे दिन की हलचल,
तब तक यह जागेगा प्रतिपल,
रेखाओं में भर-आभा जल,
दूत साँझ का इसे प्रभाती तक चलने दो !

(३)

जो तुम आ जाते एक बार !

कितनी करुणा कितने सँदेश,
पथ में बिछ जाते वन पराग,
गाता प्राणों का तार-तार,
अनुराग भरा उन्माद राग,
आँसू लेते वे पद पखार !

हँस उठते पल में आर्द्र नयन,
धुल जाता ओठों से विषाद,
छा जाता जीवन में वसंत,
लुट जाता चिर-संचित विराग,
आँखें देतीं सर्वस्व वार !
जो तुम आ जाते एक बार !

(४)

मैं बनो मधुमास आली !

आज मधुर विषाद की घिर करुण आई यामिनी,
बरस सुधि के इन्दु से छिटकी पुलक की चाँदनी,
उमड़ आई री दृगों में,
सजनि कालिंदी निराली !

रजत स्वप्नों में उदित अपलक विरल तारावली,
जाग शुक पिक ने अचानक मदिर पंचम, तान ली,
बह चली निःश्वास की मृदु
वात मलय निकुंज पाली !

सजल रोमों में बिछे हैं पाँवड़े मधुस्नात से,
आज जीवन के निमिष भी दूत हैं अज्ञात से,

क्या न अब प्रिय को बजेगी,
मुरलिका मधु राग वाली !
मैं बनी मधुमास आली !

(५)

प्रिय चिरन्तन है सजनि
क्षण-क्षण नवीन सुहागिनी मैं !

श्वास में मुझको छिपा कर वह असीम विशाल चिर घन,
शून्य में जब छा गया उसकी सजीली साध-सा बन,

छिप कहाँ उसमें सकी
बुझ बुझ जली चल दामिनी मैं !

छाँह को उसकी सजनि नव आवरण अपना बनाकर,
धूलि में निज अश्रु बोने में पहर सूने बिताकर,

प्रात में हँस छिप गई
ले छलकते दृग यामिनी मैं ?

मिलन-मन्दिर में उठा दूँ जो सुमुख से सजल गुन्ठन,
मैं मिटूँ प्रिय में मिटा ज्यों तप्त सिकता से सलिल-कण,

सजनि मधुर निजत्व दे
कैसे मिलूँ अभिमानिनी मैं ।

दीप-सी युग-युग जलूँ पर वह सुभग इतना बता दे,
फूँक से उसकी बुझूँ तब क्षार ही मेरा पता दे !

वह रहे आराध्य चिन्मय
मृण्मयी अनुरागिनी मैं !

सजल सीमित पुतलियों पर चित्र अमिट असीम का वह,
चाह एक अ़नन्त बसती प्राण किन्तु ससीम-सा यह,
रजकणों में खेलती किस
विरज विधु की चाँदनी में ?

●

प्रश्न-संकेत

१. "हिन्दी साहित्य में करुण-रस की सबसे सफल कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा हैं।" महादेवीजी की संकलित कविताओं के आधार पर इस तथ्य का समर्थन कीजिए।

२. महादेवीजी के 'चिरन्तन प्रिय' का स्वरूप अपने शब्दों में चित्रित कीजिए।

●

रामधारी सिंह 'दिनकर'

[१९०८-१९७४ ई०]

जनतन्त्र का जन्म

सदियों की ठंडी-बुझी राख सुगबुगा उठी,
मिट्टी सोने, का ताज पहन इठलाती है;
दो राह समय के रथ का घर्घर-नाद सुनो;
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।

जनता ? हाँ, मिट्टी की अबोध मूरतें वही,
जाड़े-पाले की कसक सदा सहनेवाली,
जब अंग-अंग में लगे साँप हों चूस रहे,
तब भी न कभी मुँह खोल दर्द कहनेवाली।

जनता ? हाँ, लंबी-वड़ी जीभ की वही कसम,
' जनता, सचमुच ही, बड़ी वेदना सहती है।"
"सो ठीक, मगर, आखिर, इसपर जनमत क्या है ?"
"है प्रश्न गूढ़; जनता इसपर क्या कहती है ?"

मानो जनता हो फूल जिसे एहसास नहीं,
जब चाहो तभी उतार सजा लो दोनों में;
अथवा कोई दुधमुँही जिसे बहलाने के,
जन्तर-मन्तर सीमित हों चार खिलौनों में।

लेकिन होता भूडोल, बवंडर उठते हैं,
जनता जब कोपाकुल हो भृकुटि चढ़ाती है;
दो राह, समय के रथ का घर्घर-नाद सुनो,
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।

हुँकारों से महलों की नींव उखड़ जाती,
साँसों के बल से ताज हवा में उड़ता है;
जनता की रोके राह समय में ताब कहाँ ?
वह जिधर चाहती, काल उधर ही मुड़ता है।

अब्दों शताब्दियों, सहस्राब्द का अंधकार,
बीता; गवाक्ष अम्बर के दहके जाते हैं;
यह और नहीं कोई, जनता के स्वप्न अजय
चीरते तिमिर का वक्ष उमड़ते आते हैं।

सबसे विराट जनतंत्र जगत का आ पहुँचा,
तैंतीस कोटि-हित सिंहासन तैयार करो;
अभिषेक आज राजा का नहीं प्रजा का है,
तैंतीस कोटि जनता के सिर पर मुकुट धरो।

आरती लिए तू किसे ढूँढ़ता है मूरख,
मन्दिरों, राजप्रासादों में, तहखानों में ?
देवता कहीं सड़कों पर गिट्टी तोड़ रहे–
देवता मिलेंगे खेतों में, खलिहानों में।

फावड़े और हल राज दण्ड बनने को हैं,
धूसरता सोने से शृंगार सजाती है;
दो राह, समय के रथ का घर्घर-नाद सुनो,
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।

दिल्ली

यह कैसी चाँदनी अमा के मलिन तमिस्र गगन में !
कूक रही क्यों नियति व्यंग्य से इस गोधूलि-लगन में ?
मरघट में तू साज रही दिल्ली कैसे शृङ्गार ?
यह बहार का स्वांग अरी, इस उजड़े हुए चमन में !

इस उजाड़ निर्जन खँडहर में,
छिन्न-भिन्न उजड़े इस घर में,
तुझे रूप सजने की सूझी
मेरे सत्यानाश-प्रहर में !

डाल-डाल पर छेड़ रही कोयल मर्सिया-तराना,
और तुझे सूझा इस दम ही उत्सव हाय मनाना;
हम धोते हैं घाव इधर सतलज के शीतल जल से;
उधर तुझे भाता है इन पर नमक हाय छिड़काना !

महल कहाँ बस, हमें सहारा
केवल फूस-फाँस, तृणदल का,
अन्न नहीं अवलम्ब प्राण को,
गम, आँसू या गंगाजल का।

यह विहगों का झुण्ड लक्ष्य है
आजीवन बधिकों के फल का,
मरने पर भी हमें कफन है
माता शैव्या के अंचल का !

गुलची निष्ठुर फेंक रहा कलियों को तोड़ अनल में,
कुछ सागर के पार और कुछ रावी-सतलज-जल में;
हम मिटते जा रहे न ज्यों अपना कोई भगवान !
वह अलका-छवि कौन भला देखेगा इस हलचल में ?

बिखरी लट, आँसू छलके हैं,
देख, वन्दिनी है बिलखाती,
अश्रु पोंछने हम जाते हैं,
दिल्ली ! आह ! कलम रुक जाती ।

अरी, विवश हैं, कहो, करें क्या ?
पैरों में जंजीर हाय,
हाथों में हैं कड़ियाँ कस जातीं ।
और कहें क्या ? धरा न धँसती
हुँकरता न गगन संघाती ।

हाय ! वन्दिनी माँ के सम्मुख,
सुत की निष्ठुर बलि चढ़ जाती,
तड़प-तड़प हम कहो करें क्या ?
'बहै न हाथ, दहै रिस छाती,
अन्तर ही अन्तर घुलते हैं,
'भा कुठार घुण्ठित रिपु-घाती' ।

अपनी गर्दन रेत-रेत असि की तीखी धारों पर,
राजहंस बलिदान चढ़ाते माँ की हुँकारों पर।
पगली ! देख जरा कैसी मर मिटने की तैयारी ?
जादू न चलेगा धुन के पक्के इन बनजारों पर;

तू वैभव-मद में इठलाती,
परकीया-सी सैन चलाती,
री निलास की दासी ! किसको
इन आँखों पर है ललचाती !

हमने देखा यहीं पाण्डु वीरों का कीर्ति-प्रसार,
वैभव का सुख-स्वप्न, कला का महा स्वप्न अभिसार,
यही कभी अपनी रानी थी, तू ऐसे मत भूल,
अकबर, शाहजहाँ ने जिसका किया स्वयं श्रृङ्गार।

तू न ऐंठ मदमाती दिल्ली !
मत फिर यों इतराती दिल्ली !
अविदित नहीं हमें तेरी
कितनी कठोर है छाती दिल्ली !

हाय ! छिनी भूखों की रोटी
छिना नग्न का अर्द्ध वसन है,
मजदूरों के कौर छिने हैं
जिनपर उनका लगा दसन है।

छिनी सजी साजी वह दिल्ली
अरी ! बहादुरशाह 'जफर' की,
और छिनी गद्दी लखनऊ की
वाजिदअली शाह, 'अख्तर' की।

छिना मुकुट प्यारे 'सिराज' का,
छिना अरे, आलोक नयन का,
नीड़ छिना बुलबुल फिरती है,
वन वन लिये चंचु में तिनका।

आहें उठी दीन कृषकों की,
मजदूरों की तड़प पुकारें,
अरी ! गरीबों के लोहू पर
खड़ी हुई तेरी दीवारें।

अंकित है कृषकों के दृग में तेरी निठुर निशानी,
दुखियों की कुटिया रो रो कहती तेरी मनमानी।
औ, तेरा दृग-मद यह क्या है ? क्या न खून बेकस का ?
बोल, बोल क्यों लजा रही, ओ कृषक मेध की रानी !

वैभव की दीवानी दिल्ली !
कृपक-मेध की रानी दिल्ली !
अनाचार, अपमान व्यंग्य की
चुभती हुई कहानी दिल्ली !

अपने ही पति की समाधि पर
कुलटे तू छवि में इतराती।
परदेसी संग गलबाँही दे
मन में है फूली न समाती !

दो दिन ही के बाल डांस में
नाच हुई बेपानी दिल्ली !
कैसी यह निर्लज्ज नग्नता,
यह कैसी नादानी दिल्ली !

अरी हया कर, है जईफ यह खड़ा कुतुब मीनार,
इबरत की माँ जामा[१] भी है यहीं अरी ! हुशियार !

---

१. जामा—जामा मस्जिद।

इन्हें देखकर भी तो दिल्ली ! आँखें हाय फिरा ले,
गौरव के गुरु रो न पड़ें। हाँ घूँघट जरा गिरा ले !

अरी हया कर, हाय अभागी !
मत फिर लज्जा को ठुकराती;
चीख न पड़े कब्र में अपनी,
फट न जाय अकबर की छाती।

हूक न उठे जहाँगिर दिल में
कूक न उठे कब्र मदमाती !
गौरव के गुरु रो न पड़ें, हा,
दिल्ली घूँघट क्यों न गिराती ?

बाबर है, औरंग यहीं है
मदिरा औ' कुलटा का द्रोही,
बक्सर पर मत भूल, यहीं है
विजयी शेरशाह निर्मोही।

अरी ! सँभल, यह कब्र न फटकर कहीं बना दे द्वार !
निकल न पड़े क्रोध में लेकर शेरशाह तलवार !
समझायेगा कौन उसे फिर अरी सँभल नादान !
इस घूँघट पर आज कहीं मच जाय न फिर संहार !

जरा गिरा ले घूँघट अपना,
और याद कर वह सुख सपना,
नूरजहाँ की प्रेम-व्यथा में
दीवाने सलीम का तपना;

गुम्बद पर प्रेमिका कपोती
के पीछे कपोत का उड़ना,
जीवन की आनन्द - घड़ी में
जन्नत की परियों का जुड़ना।

जरा याद कर, यहीं नहाती—
थी मेरी मुमताज अतर में,
तुझ-सी तो सुन्दरी खड़ी—
रहती थी पैमाना ले कर में।

सुख, सौरभ, आनन्द बिछे थे
गली, कूच, वन, बीथि, नगर में,
कहती जिसे इन्द्रपुर तू वह—
तो था प्राप्य यहाँ घर-घर में।

आज आँख तेरी बिजली से कौंध-कौंध जाती है!
हमें याद उस स्नेह-दीप की बार-बार आती है!

खिलें फूल, पर, मोह न सकती
हमें अपरिचित छटा निराली,
इन आँखों में घूम रही अब
भी मुरझे गुलाब की लाली।

उठा कसक दिल में लहराता है यमुना का पानी,
पलकें जोग रहीं बीते वैभव की एक निशानी,
दिल्ली! तेरे रूप-रंग पर कैसे हृदय फँसेगा,
बाट जोहती खँडहर में हम कंगालों की रानी।

गगन का चाँद

रात यों कहने लगा मुझसे गगन का चाँद,
आदमी भी क्या अनोखा जीव होता है!
उलझनें अपनी बनाकर आप ही फँसता,
और फिर बेचैन हो जगता, न सोता है।

जानता है तू कि मैं कितना पुराना हूँ?
मैं चुका हूँ देख मनु को जनमते-मरते;
और लाखों बार तुझ-से पागलों को भी
चाँदनी में बैठ स्वप्नों पर सही करते।

आदमी का स्वप्न! है वह बुलबुला जलका;
आज उठता और कल फिर फूट जाता है,
किन्तु, फिर भी धन्य; ठहरा आदमी ही तो?
बुलबुलों से खेलता, कविता बनाता है।

मैं न बोला, किन्तु मेरी रागिनी बोली,
देख फिर से, चाँद! मुझको जानता है तू?
स्वप्न मेरे बुलबुले हैं? है यही पानी?
आग को भी क्या नहीं पहचानता है तू?

मैं न वह जो स्वप्न पर केवल सही करते,
आग में उसको गला लोहा बनाती हूँ,
और उस पर नींव रखती हूँ नये घर की,
इस तरह दीवार फौलादी उठाती हूँ।

मनु नहीं, मनु-पुत्र है यह सामने, जिसकी
कल्पना की जीभ में भी धार होती है,
बाण ही होते विचारों के नहीं केवल
स्वप्न के भी हाथ में तलवार होती है।

स्वर्ग के सम्राट को जाकर खबर कर दे,
"रोज ही आकाश चढ़ते जा रहे हैं वे,
रोकिये, जैसे बने इन स्वप्नवालों को,
स्वर्ग की ही ओर बढ़ते आ रहे हैं वे।"

●

प्रश्न-संकेत

१. 'जनतंत्र का जन्म' शीर्षक कविता में जनता का जो महत्त्व बताया गया है, उसे अपने शब्दों में लिखिए।

२. "ओजस्विता और भाषा का प्रवाह दिनकरजी के काव्य की प्रमुख विशेषताएँ हैं।" इस कथन की सोदाहरण पुष्टि कीजिए।

३. आधुनिक दिल्ली की दीन परिस्थिति का एक चित्र उपरोक्त कविता के आधार पर उपस्थित कीजिए।

४. 'गगन का चाँद' शीर्षक कविता के आधार पर मनुष्य के अनोखे जीव होने के कारण बताइए।

●

सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'

[१६११-१६८७ ई०]

शिशिर की राका-निशा

वञ्चना है चाँदनी सित
झूठ वह आकाश का निरवधि, गहन विस्तार—
शिशिर की राका-निशा की शान्ति है निस्सार।
दूर वह सब शान्ति, वह सित भव्यता, वह शून्य
के अब लेप का प्रस्तार—

इधर—केवल झलमलाते
चेतहर, दुर्धर कुहासे की हलाहल-स्निग्ध मुट्ठी में
सिहरते-से, पंगु, टुंडे
नग्न, बुच्चे, दईमारे पेड़ !
पास फिर, दो भग्न गुम्बद—
निविड़ता को भेदती चीत्कार-सी मीनार—
बाँस की टूटी हुई टट्टी, लटकती
एक खम्भे से फटी-सी ओढ़नी की चिन्दियाँ दो-चार !
निकटतर—धँसती हुई छत, आड़ में निर्वेद
मूत्र-सिंचित मृत्तिका के वृत्त में
तीन टाँगों पर खड़ा, नतग्रीव,
धैर्य-धन गदहा।
निकटतम
रीढ़ बंकिम किये, निश्चल किन्तु लोलुप
खड़ा वन्य बिलार—
पीछे, गोयठों के गन्धमय अम्बार !

गा गया सब राजकवि, फिर राजपथ पर खो गया।
गा गया चारण, शरण फिर शूर की आकर, निरापद सो गया।
गा गया फिर भक्त ढुलमुल चाटुता से वासना को झलमलाकर,
गा गया अन्तिम प्रहर में वेदना-प्रिय, अलस, तन्द्रिल, कल्पना

का लाड़ला
कवि निपट भावावेश से निर्वेद !

किन्तु अब—निस्तब्ध—संस्कृत
लोचनों का भाव-संकुल, व्यञ्जना का भीरु
फटा-सा, अश्लील-सा विस्फार—

झूठ वह आकाश का निरवधि गहन विस्तार—
वञ्चना है चाँदनी सित,
शिशिर की राका-निशा की शान्ति है निस्सार !



नदी के द्वीप

(१)

हम नदी के द्वीप हैं।
हम नहीं कहते कि हमको छोड़ कर स्रोतस्विनी बह जाय।
वह हमें आकार देती है।
हमारे कोण, गलियाँ, अन्तरीप, उभार, सैकत कूल,
सब गोलाइयाँ उसकी गढ़ी हैं।
माँ है वह। है, इसी से हम बने हैं।

(२)

किन्तु हम हैं द्वीप।
हम धारा नहीं हैं।
स्थिर समर्पण है हमारा। हम सदा से द्वीप हैं स्रोतस्विनी के।
किन्तु हम बहते नहीं हैं। क्योंकि बहना रेत होना है।
हम बहेंगे तो रहेंगे ही नहीं।
पैर उखड़ेंगे। प्लवन होगा। ढहेंगे। सहेंगे। बह जायेंगे।
और फिर हम चूर्ण होकर भी कभी क्या धार बन सकते?
रेत बन कर हम सलिल को तनिक गँदला ही करेंगे।
अनुपयोगी ही बनायेंगे।

(३)

द्वीप हैं हम।
यह नहीं है शाप। यह अपनी नियति है।
हम नदी के पुत्र हैं। बैठे नदी के क्रोड़ में।
वह बृहद् भूखंड से हमको मिलाती है।
और वह भूखण्ड
अपना पितर है।

(४)

नदी, तुम बहती चलो।
भूखंड से जो दाय हमको मिला है, मिलता रहा है,
माँजती, संस्कार देती चलो;
यदि ऐसा कभी हो
तुम्हारे आह्लाद से या दूसरों के किसी स्वैराचार से—
अतिचार से—

तुम बढ़ो, प्लावन तुम्हारा घरघराता उठे—
यह स्रोतस्विनी ही कर्मनाशा कीर्त्तिनाशा घोर
काल-प्रवाहिनी बन जाय
तो हमें स्वीकार है वह भी। उसी में रेत होकर
फिर छनेंगे हम। जमेंगे हम। कहीं फिर पैर टेकेंगे।
कहीं फिर भी खड़ा होगा नये व्यक्तित्व का आकार।
मातः, उसे फिर संस्कार तुम देना।

●

मैंने देखा, एक बूँद

मैंने देखा
एक बूँद सहसा
उछली सागर के झाग से
रँगी गई क्षण भर
ढलते सूरज की आग से।
मुझको दीख गया।
सूने विराट के सम्मुख
हर आलोक-छुआ अपनापन
है उन्मोचन
नश्वरता के दाग से।

●

औद्योगिक बस्ती

पहाड़ियों से घिरी हुई इस छोटी-सी घाटी में
ये मुँहझौंसी चिमनियाँ बराबर
धुआँ उगलती जाती हैं।
भीतर जलते लाल धातु के साथ
कमकरों की दुस्साध्य विषमताएँ भी
तप्त उबलती जाती हैं।
बँधी लीक पर रेलें लादे माल
चिहुँकती और रँभाती अफराए डाँगर-सी
ठिलती चलती जाती हैं।
उद्यम की कड़ी-कड़ी में बँधते जाते मुक्तिकाम
मानव की आशाएँ ही पल-पल
उसको छलती जाती हैं।



परिशिष्ट

विद्यापति

'मैथिल कोकिल' विद्यापति के जन्म और मृत्यु-काल के विषय में विद्वानों में एक मत नहीं है। एक प्रामाणिक मत के अनुसार इनका जन्म सन् १३५० के आस-पास माना गया है। विद्यापति का जन्मस्थान दरभंगा जिले (विहार) के वेनी पट्टी थाने के अन्तर्गत विसपी गाँव बताया जाता है। विद्यापति मैथिल ब्राह्मण थे। इनके पूर्वज और वंशधर तत्कालीन मिथिला नरेशों के राजदरवारों में उच्च पदों पर अधिष्ठित थे। इस खानदान में कितने ही कवि और लेखक हो गए हैं। इनके पिता श्री गणपति ठाकुर मिथिला के गणेश्वर के सभा पंडित थे। विद्यापति भी क्रमशः कीर्तिसिंह, देवसिंह और शिवसिंह के दरवारी कवि और पंडित रहे। शिवसिंह से इनकी घनिष्टता सर्वाधिक थी।

विद्यापति को राजाओं द्वारा अनेक उपाधियाँ प्राप्त हुई थीं, इसीलिए उनकी रचनाओं में अनेक उपनामों या उपाधियों की 'छाप' मिलती है; यथा 'अभिनव जयदेव', 'कविशेखर', 'कवि कंठहार', 'दशावधान' और 'पंचानन' आदि। विद्यापति के विषय में यह विवाद बहुत दिनों तक चला कि ये बँगला के कवि हैं या मैथिल के। इन्हें बंगदेशीय एवं बंगला कवि सिद्ध करने के लिए बहुत प्रयत्न किया गया। मैथिल कवि होने के कारण ये हिन्दी भाषा-साहित्य के क्षेत्र में आ जाते थे। अन्ततः इन्हें मिथिलावासी और मैथिल कवि माना जाता है।

विद्यापति की प्रथम रचना 'कीर्ति-लता' है। इसकी संस्कृत, प्राकृत और मैथिली मिश्रित भाषा को कवि ने 'अवहट्ठ' भाषा कहा है। हिन्दी भाषा के विकास के अध्ययन में इस भाषा और रचना का बड़ा महत्त्व है। इनकी अन्य रचनाएँ 'भूपरिक्रमा', 'पुरुष परीक्षा', 'कीर्त्तिपताका', 'लिखनावली', 'शैव सर्वस्वसार', 'गंगा वाक्यावली' और 'दुर्गाभक्ति-तरंगिणी' आदि हैं। इनमें से अधिकांश संस्कृत में हैं। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना उनकी 'पदावली' है।

विद्यापति शैव थे या वैष्णव, यह विवाद का विषय है। कुछ लोग उन्हें शाक्त (शक्ति के उपासक) भी मानते हैं। इनकी 'पदावली' में इन सबसे सम्बद्ध पद हैं। विद्यापति का चित्त विशेषतया कृष्ण और राधा की प्रीति के विविध पक्षों के आख्यान में ही रमा है। 'पदावली' में एक भक्त कवि की अपेक्षा वे श्रृंगारिक कवि के रूप में अधिक स्पष्ट हैं। भक्तों का, विशेषत: बंगाली भक्तों का एक वर्ग ऐसा भी है जो विद्यापति के घोर श्रृंगारिक पदों को भी भक्ति गीतों के अन्दर खींच लाता है। अनेक मन्दिरों में अब भी इनके पद गाये जाते हैं। विद्यापति के पद मिथिला प्रदेश में झोंपड़ी से महलों तक गूँज रहे हैं। इससे बढ़कर उनकी लोकप्रियता का प्रमाण और क्या हो सकता है?

शब्दार्थ : किं=क्या। कहब=कहूँ। तोय=तुमसे। मुगुधिनि=आकर्षित; जो मुग्ध हुई है। तुअ लगि=तुम्हारे कारण। आध=अधिक, आधी से ज्यादा। बिगलित लाज=लज्जा छोड़कर। तापिनि ताप ततहि तत ताय=विरहिणी का विरह ज्वर और भी तीव्र होता जाता है। ताक=उसका। रचइत=बनाती है या सोचती है। बहि जाय=बीत जाती है। पेखल=देखा। मृगमद=कस्तूरी। तामरस=लाल कमल। घनसार=चन्दन। असँभार=बेहोश या निढाल। दंडक=२६ वर्णों का एक छन्द। भान=कहते हैं। पटाय=बहाकर, सींचकर। गुनसाह=परम गुणशाली।

नाह=नाथ या स्वामी। ओर=अन्त। भादर=भाद्रमास, भादों। झंपि=घिरकर। संतत=सतत या लगातार। कुलिस कत सत-पात=कहीं बिजली का सैकड़ों धाराओं में गिरना। डाक डाहुक=डाहुक पक्षी का बोलना। चानन=चन्दन। एकसिर= अकेली। झाँवर=मलिन या गन्दी। लुबधाई=लुब्ध हो गयी या मुग्ध हो गयी। अपरुब=अपूर्व, अजीब। कीट परान=प्राण-रूपी कीड़ा या जीव। महुअर=मधुकर, भौंरा। मइल्ल= विकृत; मैला। पुरिसत्तणेन=पुरुषार्थ से। पुरसिओ=पुरुष। जन्ममत्तेण=जन्म मात्र से। जलओ=जलद, बादल। भोअना= भोजन। जोवइ=देखता है। सोधण्णी निश्चिन्ते सोवई=वही धन्य-पुरुष निश्चिन्त सोता है।

●

कबीरदास

सन्त कबीरदास का सारा जीवन-वृत्त ही किंवदंतियों पर आधारित है। उनकी प्रामाणिक जीवनी देने का प्रयत्न बहुत दिनों से होता आ रहा है पर शत-प्रतिशत तथ्य की खोज अभी भी नहीं हो सकी है। अधिकांश लोग मानते हैं कि कबीर का जन्म सन् १४०० के आस-पास काशी के निकट लहरतारा नामक स्थान में एक जुलाहा परिवार में हुआ था। यह कहना कठिन है कि नीरू और उनकी पत्नी नीमा उनके पिता-माता थे या पालक मात्र। इतना तो प्रायः निश्चित माना जाता है कि कबीर का पालन-पोषण एक ऐसे मुसलमान जुलाहा परिवार में हुआ था जो मूलतः हिन्दू था और कुछ पीढ़ियों पूर्व इस्लाम-धर्म ग्रहण करने के लिए बाध्य हुआ था। कबीर की पत्नी का नाम लोई और पुत्र-पुत्री का नाम

क्रमशः कमाल और कमाली बताया जाता है। कबीर भी अपने मौरूसी पेशे (सूत और वस्त्र-निर्माण) से ही अपना भरण-पोषण करते थे।

सन्त कबीर का स्थान हिन्दी कवियों में, विशेषतः भक्त और समाज-सुधारक सन्त कवियों में बड़ा ही सम्मानपूर्ण है। कबीर अपने को 'ना हिन्दू ना मुसलमान' कहकर जाति-पाँति और वर्ण-धर्म के झगड़े से सदा दूर रखते थे। उनकी अधिकांश शिक्षा-दीक्षा श्रुति-परम्परा से ही उन्हें प्राप्त थी। बचपन से ही उन्होंने काशी में अखाड़ा जमाकर रहने वाले विविध सम्प्रदायों के साधु-सन्तों की सत्संगति से लाभ उठाया था और पर्यटन भी खूब किया था। उनका समूचा ज्ञान अनुभवजन्य था, न कि पोथी-पठित। उन्होंने अपने विषय में स्पष्ट रूप से कह दिया है—

(१) काशी में हम प्रगट भए हैं, रामानन्द चेताये।

(२) मसि कागज छूयो नहीं, कलम गही नहीं हाथ।

पुस्तकीय ज्ञान को कबीर सच्चा ज्ञान कभी नहीं मानते थे। अपने अनुभूतिजन्य ज्ञान को जिन सूत्रों से उन्होंने प्राप्त किया था, उनमें से वे स्वामी रामानन्द के विशेष ऋणी थे। उन्होंने केवल उन्हें ही अपना सच्चा गुरु माना था।

कबीर में जन्म-जात प्रतिभा थी। तथ्यातथ्य के संग्रह और त्याग की उनमें अद्भुत क्षमता थी। संग्रहणीय वस्तु को ग्रहण करने और त्याज्य वस्तु को त्याग देने में उन्हें तनिक भी संकोच नहीं होता था। उनकी दृष्टि में हिन्दू-मुसलमान और ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं था। वे सच्चे समाज-सुधारक और आध्यात्मिक नेता थे। सामाजिक कुरीतियों के वे पक्के उन्मूलक थे। उनकी निर्भीकता और तटस्थता सराहनीय है। चाहे जिस समाज, धर्म या सम्प्रदाय में, उन्हें बुराई दिखाई देती, कबीर बिना उसकी कटु आलोचना किए न छोड़ते। वे मठ-मन्दिर की स्थापना, तीर्थ-स्नान, व्रतोद्यापन, मूर्तिपूजा और बाह्याडम्बरों से बहुत चिढ़ते थे। उन्हें पाखण्ड प्रिय नहीं था। जीवन के सहज-मार्ग के वे पोषक थे। सहज-साधना और सहज जीवन ही उनके आदर्श थे।

कबीर स्वयं ग्रन्थ-रचना नहीं करते थे। उनके शिष्यों ने समय-समय पर उनकी बानियों का संग्रह किया है। उनकी कविता अनायास है, सायास नहीं। कबीर के ७५ ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है, जिनमें से अधिकांश रचनाएँ विवादास्पद हैं। एक मात्र 'बीजक' को ही विद्वान् कबीर की प्रामाणिक रचना मानते हैं। उनकी भाषा में कई बोलियों का मेल है अतः उसे 'सधुक्कड़ी' नाम दिया गया है। हिन्दी साहित्य और हिन्दू समाज कबीर से कभी भी उऋण नहीं हो सकता।

शब्दार्थ : जंजाल = झंझट। मार = विघ्न। दीदार = दर्शन। उनमन = समाधि, परमात्मा में। उनमन = मन की एक विशेष अवस्था (उन्मनी)। बिलगगा = मिल गया, विलीन हुआ। बिलाइ = मिट गया, खो गया। सेती = से। सगला = सकल, सारा। चुग गई = चुन गई, खा गई। साबित = सकुशल, पूर्ण। नौबत = शहनाई, मंगलसूचक बाजे। थूंनी = खम्भे। बलींडा = धरन, बेंड़ो लगाई हुई छत की लकड़ी। छाँनि = छप्पर। धर = जमीन, पृथ्वी। भाँडा = बर्तन। कूड़ = कूड़ा। उसारै = खड़ा करे, उठावे। तलब = आदेश, पुकार। गये पपनियाँ ऊझरी बाजी = बाजे बजाने वाले चले गए और खेल समाप्त हो गया। लबरा = लबार झूठा। नेवर = नूपुर या पायल। कुफर कटारी = कपट की छुरी।



मलिक मुहम्मद 'जायसी'

जायसी हिन्दी के प्रेममार्गी कवियों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। इनका जन्म सन् १४९३ में गाजीपुर जिले (उत्तर प्रदेश) के जायस नामक

स्थान में हुआ बताया जाता है। उस समय के सुप्रसिद्ध सूफी फकीर शेख मौहदी (मोहिउद्दीन) के ये शिष्य थे। यद्यपि ये जाति से मुसलमान थे, पर हिन्दू रीति-रिवाजों और देवी-देवताओं का भी सम्मान करते थे। इनमें धार्मिक सहिष्णुता पर्याप्त थी; इसीलिए इनका सम्मान हिन्दुओं और मुसलमानों में समान रूप से था। ऐसा कहा जाता है कि जायसी एक आँख से काने, एक कान से बहरे और चेहरे से कुरूप थे। तथ्य जो भी हो, पर जायसी ने अपनी रचनाओं में अपने हृदय का जो परिचय दिया है, वह सर्वांग सुन्दर है।

जायसी चाहे अधिक शिक्षित भले न रहे हों, पर वे बहुश्रुत अवश्य थे। उन्हें साहित्य, ज्योतिष, औषधि-शास्त्र तथा व्यावहारिक क्षेत्रों का अच्छा ज्ञान था। 'पद्मावत' उनके ज्ञान वैविध्य का अच्छा उदाहरण है। हिन्दू धर्म का विशेषतः पौराणिक कथाओं, सामाजिक रीति-रिवाजों एवं हठयोग आदि की जानकारी भी उन्हें कम नहीं थी। सौमनस्य और सौहार्द्र के आधार पर हिन्दुओं और मुसलमानों को एक-दूसरे के निकट लाना ही जायसी का मुख्य उद्देश्य था।

यदि तुलसी को छोड़ दें तो जायसी अवधी भाषा के अन्यतम कवि ठहरते हैं। 'पद्मावत', 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' की अवधी भाषा में रचना करके उन्होंने इस भाषा का बड़ा हित किया है। इतना ही नहीं, बल्कि बहुत दिनों तक इनके 'पद्मावत' का सम्मान 'रामचरितमानस' जैसा ही रहा। इन्होंने कवियों की एक ऐसी परम्परा हिन्दी को दी, जिन्होंने मसनवी या स्वतन्त्र शैली में प्रेम-कथाओं की एक बड़ी संख्या में सृष्टि की। हिन्दू समाज की लोककथाओं को फारसी महाकाव्यों की शैली में रचकर जायसी आदि प्रेमगाथाकारों ने साहित्य और सम्प्रदाय दोनों का हित किया। इनका पद्मावत एक सीधा-सादा महाकाव्य नहीं है, बल्कि एक रूपक है। इसमें चित्तौड़ गढ़ के क्षत्रिय राजकुमार रतन सेन, उनकी विवाहिता पत्नी नागमती और प्रेमिका पद्मावती की प्रेम-कथा वर्णित है, जो जीवात्मा और परमात्मा के प्रेम के रूप में भी घटित होती है।

'पद्मावत' का विरह-वर्णन बड़ा ही विशद है। कहीं-कहीं नीति विषयक उक्तियों और अलंकारों की छटा से काव्य का सौन्दर्य और भी खिल उठा है। 'आखिरी कलाम' और 'अखरावट' सूफी सिद्धान्तों पर लिखी गई नीति और भक्तिपरक छोटी-छोटी रचनाएँ हैं। इनका साहित्यिक मूल्य अधिक नहीं है। पद्मावत की रचना चौपाई और दोहा छन्द में हुई है। सात अर्द्धाली के बाद एक दोहा रखा गया है। भाषा पूर्वी अवधी है और परिष्कृत न होकर बोल-चाल की भाषा के अधिक निकट है।

शब्दार्थ : सँकरें=जंजीर। फंदवार=फन्दे में फँसाने वाले। लुरे=लहराते हुए। अरघानि=मँहक। अस्टकुरी=नागों के आठ कुल (वासुकी, तक्षक, कुलक, कर्कोटक, पद्म, शंखचूड़, महापद्म, धनंजय)। उपराहीं=ऊपर। रुहिर=रुधिर। करवत=आरा। बेनी=वेणी। तपा=तपस्वी। सोहागु=सौभाग्य। ओती=उतनी। अत्र=अस्त्र, हथियार। हए=मारा। सहुँ=सामने। हुत=था। वेझ=वेझा, पिरोए हुए। उलथहिं=उछलते हैं। भवाँ=चक्कर। अपसवाँ=उड़कर भागना। अड़ार=स्थिर रहने वाले। जोगु=जोड़, समता। पँवारी=लोहे में छेद करने वाला औजार। हिरकाइ लेईं=पास सटा ले। मजीठ=लाल। धार=रेखा। चौक=आगे के चार दाँत। पाहन=हीरा, रत्न। झरक्कि=झलक गए। अमर=अमरकोश। भासवती=ज्योतिष का ग्रन्थ। सुजनन्ह=सुजानों या चतुरों को। साँधे=साने, गूँथे। खरौरा=खाँड़ के लड्डू।

●

महाकवि सूरदास

सूरदासजी कृष्ण-भक्ति शाखा के सर्वप्रधान कवि हैं। श्री वल्लभाचार्य के ये शिष्य थे। उन्हीं की प्रेरणा से कृष्ण की बाल-लीला सम्बन्धी

पदों का गान इन्होंने किया था। श्री वल्लभाचार्य के पुत्र श्री विट्ठलनाथ-जी द्वारा स्थापित 'अष्टछाप' के कवियों में इनका स्थान सर्वप्रथम है। सूरदास हिन्दी साहित्य-गगन के सूर्य माने जाते हैं।

सूरदास का मूल निवास-स्थान आगरा-मथुरा रोड पर स्थित रुनकुता नामक ग्राम बताया जाता है। उनकी जन्मभूमि के विषय में मतभेद है। गोस्वामी गोकुलनाथ कृत 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के आधार पर इनके पिता का नाम रामदास बताया गया है। जाति से ये सारस्वत ब्राह्मण थे। सूरदास के परिवार आदि के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं है। इनका जन्मकाल सन् १४८३ (संवत् १५४०) माना जाता है।

'साहित्य-लहरी' से इनके विषय में कुछ परिचय प्राप्त होता है, लेकिन उसकी बहुत-सी बातें तथ्य से मेल नहीं खातीं। ऐसा कहा जाता है कि इनकी मृत्यु सन् १५६३ (संवत् १६२०) के लगभग 'पारसोली' नामक ग्राम में हुई थी। सूरदास के विषय में अन्य बातें किंवदंतियों से पूर्ण हैं। अभी तक यह निश्चित नहीं हो सका कि ये जन्मान्ध थे या बाद में अन्धे हुए।

सूरदासजी की पाँच मुख्य रचनाएँ बताई जाती हैं—(१) सूर-सागर, (२) साहित्यलहरी (दृष्टकूट), (३) सूरसारावली, (४) नल-दमयन्ती और (५) ब्याहलो। इनमें से नल-दमयन्ती और ब्याहलो अप्राप्य हैं। सूर-सारावली सूरसागर की ग्यारह सौ सात पदों में लिखित एक सूची-सी है। साहित्य-लहरी में, सूरसागर में आए हुए दृष्टकूट संगृहीत हैं। इस प्रकार सूरसागर ही सूरदास की अन्यतम कृति ठहरती है।

सूरसागर बारह स्कन्धों में विभाजित है जिनमें केवल दशम स्कन्ध ही बड़ा है, शेष छोटे हैं। यह रचना श्रीमद्भागवत की छाया है। इसके पदों की संख्या बहुत अधिक बताई जाती है, पर अभी तक पाँच हजार से अधिक पद प्राप्त नहीं हुए हैं। सूर-सागर की प्रामाणिक प्रतियों में केवल

चार हजार या इससे कुछ अधिक पद मिलते हैं, जिनमें चार सौ पदों को छोड़ अन्य सभी कृष्ण सम्बन्धी पद हैं।

पुष्टि मत में बालकृष्ण ही उपास्य माने गए हैं, अतः अधिकांश पदों में कृष्ण की बाललीला का ही सूरदास ने वर्णन किया है। सूरदास का मन वात्सल्य और श्रृंगार में ही अधिक रमा है। वात्सल्य-रस के वर्णन में वे हिन्दी कवियों में अद्वितीय हैं। श्रृंगार-वर्णन में भी विशेषतः वियोग-वर्णन में सूरदास किसी भी प्रकार कम नहीं हैं। मौलिकता और वस्तु-स्थिति का सूक्ष्म चित्रण उनकी विशेषता है। इन वर्णनों में उनका एक निजीपन है। सूरदास विशुद्ध कृष्णभक्त थे। अपने विनय के पदों में भी उन्होंने कृष्ण का ही यश-गान गाया है। अधिकांश रचना पदों में है। ये सभी पद गेय हैं। उनकी भाषा परिनिष्ठित व्रजभाषा है।

शब्दार्थ : कुलहि=कलंगी; टोपी। हराइ=झुककर। जलपाइ=बातें करना। अरबराय=जल्दी में चलना, लड़खड़ाना। महरि=महिला, यशोदा। लटैं=बालों की लटें। कच=बाल। टकटोवे=टटोलकर देखना। परगन=ग्रामवासी, परगना। बगस्यौ=क्षमा किया। दोना=पत्ते का बनाया हुआ कटोरा। दुरायो=छिपा लिया। साँठि=छड़ी मारने की सोटी। बौरायो=पागल हो गये। धौरी=धवली, सफेद रंग की। झंगुली=एक प्रकार का कुरता, झबला। दाम=माला। बनजारे=कंजड़, एक जाति जो सदा घूमकर ही जीवन बिताती है। टाँडे=घोड़ों और टट्टुओं पर लादा हुआ सामान। राँड़ै=राँड़, विधवा। खाँड़ै=तलवारें। गाँड़े=ईख के टुकड़े, गँड़ेरी। झाला लै मिलवत=झंझट पैदा करते हो। डाँड़े=सजा पाए हुए। इतै बाँध को बाँधे=कौन इतने नियमों के बन्धन में बँधे। बिलग=बुरा। सुफलकसुत=अक्रूर, जो कृष्ण को मथुरा ले गए थे। मनिआरे=मनोहर। माठ=मिट्टी का घड़ा। परवारे=

धोए गए। हारिल की लकरी=एक ही सहारा, आधार। सौंतुख=सम्मुख, सामने। जकरी=जकड़ना, कसकर पकड़ लेना। चकरी=चक्कर, चंचलता। गाँसी=हृदय को छेद देने वाली, कपट भरी बात। निबेरत=वसूल करना। ठाले=बेकार में, खाली। सतरात=शत्रुता करना, क्रुद्ध होना। समर-समीप=कामदेव के हाथ। छिलरा=छिलका। चोलना=कुरता जो साधु पहना करते हैं। भमन=भवन, घर। तारो=ताला। अरगजा=सुगन्धित लेप। रीतो करत निषंग=तरकश को ही खाली कर देता है। अरसात=आलस्य करता है।



गोस्वामी तुलसीदास

गोस्वामी तुलसीदास भारतीय साहित्य के मूर्धन्य कवियों में से एक हैं। भारत में तुलसी के नाम से जितने लोग परिचित हैं, सम्भवतः उतने अन्य किसी कवि के नाम से नहीं हैं। 'रामचरितमानस' के माध्यम से विशेषतः हिन्दी भाषी जनता के बीच वे झोपड़ी से लेकर महल तक पहुँच गए हैं। यद्यपि तुलसीदास एक अत्यन्त उच्चकोटि के महाकवि एवं सन्त थे, फिर भी उनके जीवन-चरित सम्बन्धी प्रामाणिक सामग्री का अभाव हमें खटकता है।

अन्तर और बाह्य प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि तुलसी का जन्म सन् १५३२ (संवत् १५८९ विक्रमी) में हुआ था। उनका जन्म-स्थान बाँदा जिलान्तर्गत (उत्तरप्रदेश) चित्रकूट के पास राजापुर नामक गाँव में हुआ था। इनके जन्मस्थान के विषय में विद्वान् एकमत नहीं हैं। कुछ लोग सोरों को इनका जन्मस्थान मानते हैं। पाराशर-गोत्रीय सरयूपारीण ब्राह्मण पंडित आत्माराम दूबे इनके पिता

बताए जाते हैं। इनकी माता का नाम हुलसी बताया जाता है। इनके प्रारम्भिक जीवन के विषय में इतना मतभेद है कि तथ्य का पता लगाना कठिन है। ऐसा माना जाता है कि अभुक्त-मूल में पैदा होने के कारण ये माता-पिता द्वारा त्याग दिए गए थे। बचपन में पेट की क्षुधा शान्त करने के लिए इन्हें भीख भी माँगनी पड़ी थी। जनश्रुति है कि पं० दीनबन्धु पाठक की सुन्दरी कन्या रत्नावली से इनकी शादी हुई थी। इनका गृहस्थ जीवन बहुत दिनों तक नहीं चला। रत्नावली की ही एक बात से दुखी होकर इनमें वैराग्य-भावना जागृत हो गई। तीस वर्ष की अल्पायु में इन्होंने गृहत्याग किया और तीर्थाटन के लिए चल पड़े।

बचपन में ही इन्हें एक वैष्णव महात्मा श्री नरहरिदास का सान्निध्य प्राप्त हो गया। उन्हीं के आश्रम में इन्होंने वेदों, पुराणों और उपनिषदों का अध्ययन किया। गृहत्याग के पश्चात् कुछ ही दिनों में इन्हें ख्याति मिलने लगी। इनका अन्तिम जीवन बड़े दुःख में बीता। इन्होंने काशी में सन् १६२३ (सम्वत् १६८०) में प्राण त्याग किया।

तुलसीदास संस्कृत भाषा और साहित्य, हिन्दू-दर्शन और हिन्दू धर्म-शास्त्रों के अच्छे ज्ञाता थे। राम के रूप में उन्हें अलौकिक विशेषताओं से युक्त एक लोकनायक मिल गया। अपनी मर्मभेदिनी और हृदयग्राही कविता द्वारा रामचरितमानसरूपी ऐसे वटवृक्ष को इन्होंने खड़ा किया, जिसकी छाया हर ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, बालक-वृद्ध आदि सभी को शान्ति-प्रदायिनी सिद्ध हुई। इसी रामकथा को आधार बनाकर इन्होंने अपनी सभी रचनाओं का सर्जन किया। इनकी रचनाओं में रामचरितमानस, कवितावली और विनय-पत्रिका विशेष ख्यातिप्राप्त रचनाएँ हैं। रामललानहछू, वैराग्य-संदीपनी, बरवै रामायण, पार्वतीमंगल, जानकीमंगल, रामाज्ञा दोहावली और कृष्ण गीतावली आदि राम, कृष्ण, शंकर और वैराग्य सम्बन्धी रचनाओं से युक्त हैं।

गोस्वामी तुलसीदास के आराध्य मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी थे। तुलसीदास की भक्ति दास्य-भक्ति थी। चातक उनकी भक्ति का

आदर्श था। विचारों में समन्वयवादी होते हुए भी सनातन-धर्म उन्हें विशेष प्रिय था। दार्शनिक सिद्धान्तों में वे विशिष्टाद्वैतवादी थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में कई प्रकार की शैलियों का उपयोग किया है। छप्पय-पद्धति, गीत-पद्धति, कवित्त-सवैया-पद्धति, दोहा-पद्धति और चौपाई-पद्धति आदि पद्धतियों को अपनाकर उन्होंने अद्‌भुत ग्रहणशीलता का परिचय दिया है। उन्होंने प्रबन्ध, स्फुट और गीत आदि काव्य लिखकर भाषा, भाव, शैली और छन्द-वैविध्य का परिचय दिया है। वे व्रजभाषा और अवधी दोनों के कवि हैं।

शब्दार्थ : भवचापू = शिव का धनुष। ठवनि = खड़े होने का ढंग। जुवा = युवा, जवान। बाल पतंग = उगता हुआ सूर्य। कोक = चकवा पक्षी। कुँभज = अगस्त्य मुनि जो समुद्र पी गये थे। खर्व = नष्ट करना, तुच्छ। चाप गरुआई = धनुप का भारीपन। अलिनि = भँवरी को। ताकेउ = देखा। कदराई = कायरता। बोहित = बेड़ा, बड़ी नाव। कनहारू = मल्लाह, केवट। बिहान = बीतता है। अहि कोल कूरम कलमले = शेष (नाग) वाराह (सूअर), कच्छप (कछुआ), जिनके ऊपर क्रमशः धरती टिकी हुई है, बेचैन हो गए। अजा खुर = बकरी के पैरों से बनने वाले जमीन पर छोटे गढ़े। करारे = कगार, नदी का ऊँचा रेतीला किनारा। तरनी = तरणी, नौका। पखारि = धोकर। जानकी ओर हहा है = सीता की तरफ देखते हुए ठट्टा मारकर हँसे। सहरी = सफरी, छोटी मछली। बारे दारे = छोटे-छोटे। याहि लागि = इसी पर आश्रित हैं। पोखरिन = तलैया का। माँगनिहि = मंगन, याचक। करिया करम = काले कर्म, खराब कर्म, दुर्भाग्य। रजमिल गए = धूल में मिल गये, मिट गये। जीह-देहरी = जीभ-रूपी डेहरी।



केशवदास

भक्तिकाल में पैदा होकर भी रीतिकाल के प्रस्तोता आचार्य केशवदास हिन्दी के बृहत्रयी (सूर, तुलसी, केशव) के एक प्रमुख महाकवि हैं। प्राचीन समीक्षकों ने जब सूर को सूर्य और तुलसी को चन्द्र कहा था, तब वे किसी तीसरे कवि की तलाश में केशव को ही पा सके थे, जिन्हें नक्षत्रगण (उडुगण) की संज्ञा दी थी। ये केशवदास सनाढ्य ब्राह्मण काशीनाथ के पुत्र बलभद्र मिश्र के छोटे भाई और ओरछा के महाराज इन्द्रजीतसिंह के मन्त्री, सखा, राजकवि एवं कविगुरु थे। इनका जन्मकाल सन् १५५६ ई० के आस-पास माना जाता है। ये अपने समय के बड़े साहित्य-मर्मज्ञ और संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे। इनके घराने में बराबर संस्कृत के अच्छे पंडित होते आए थे। ये हिन्दी के सर्वप्रथम आचार्य माने जाते हैं।

केशवदास चमत्कारवादी कवि थे। आचार्यत्व के क्षेत्र में ये अलंकार-वादी कवि माने जाते हैं। इनके सात ग्रन्थ मिलते हैं—(१) कविप्रिया, (२) रसिक-प्रिया, (३) रामचन्द्रिका, (४) वीरसिंहदेवचरित, (५) विज्ञान-गीता, (६) रतनबावनी और (७) जहाँगीर जस-चन्द्रिका। रसिकप्रिया में रसों का निरूपण किया गया है। विशेषतः यह श्रृंगार-रस और नायिका भेद का ग्रन्थ है। कविप्रिया में कवि-शिक्षा तथा अलंकारों का निरूपण है। विज्ञान-गीता एक आध्यात्मिक ग्रन्थ है। इनकी अन्य रचनाएँ चरितसम्बन्धी हैं, जिनमें क्रमशः ओरछा के राजा इन्द्रजीत सिंह के भाई वीर सिंह और रतन सिंह की प्रशस्ति है। जहाँगीर जस-चन्द्रिका में जहाँगीर का यशवर्णन किया गया है। एक महाकवि के रूप में रामचन्द्रिका द्वारा उन्हें बड़ी अच्छी प्रशस्ति मिली है।

कवि की अपेक्षा केशवदास का आचार्यत्व अधिक मुखर है। उनकी रचनाओं में भाव-पक्ष की अपेक्षा कला-पक्ष अधिक प्रधान है। केशवदास अलंकार-प्रिय कवि थे, इसीलिए रामचन्द्रिका अलंकारों से बोझिल हो गई है। मानव-प्रकृति और दरबारी संस्कृति का केशव को बड़ा अच्छा ज्ञान

था। काव्य-शास्त्र, व्याकरण, दर्शन, आयुर्वेद और राजनीति का भी उन्हें यथेष्ट ज्ञान था। रामचन्द्रिका एक पाण्डित्यपूर्ण महाकाव्य है। इसके कथोपकथन बड़े ही प्रभावशाली हैं। केशव को प्रकृति-वर्णन भी बहुत प्रिय था। कविप्रिया में ऐसे वर्णन प्रचुर मात्रा में आए हैं।

केशवदास में मौलिकता का अभाव बताया जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि "केशव को कवि-हृदय नहीं मिला था। उनमें वह सहृदयता और भावुकता न थी जो एक कवि में होनी चाहिए।" रामचन्द्रिका वर्णनों और अलंकारों को इतनी प्रमुखता देती है कि उसका कथातत्व सर्वथा उपेक्षित हो गया है। कहीं-कहीं मर्मस्पर्शी स्थलों की केशव उपेक्षा कर गए हैं। कुछ अन्य बातें भी उनकी रचनाओं में मिलती हैं जो आचार्यत्व के प्रति उनके मोह को प्रकट करती हैं; लेकिन उनके कवित्व के मूल्य को घटा देती हैं। उनकी रचनाएँ सर्वसामान्य के लिए बहुत क्लिष्ट हैं।" केशव की भाषा ब्रजभाषा है, जिसमें तत्सम पदावली के साथ बुन्देलखण्डी शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। केशव के उदय के पचास वर्ष बाद रीति की परम्परा चली लेकिन वे बहुत दिनों तक कवियों के गुरु बने रहे।

शब्दार्थ : सियरी=शीतल, ठण्डी। नीठि=निकट। डोठि=दिखाई पड़ा। कंद=आनन्ददायक। द्युति=प्रकाशवान। श्री=चिन्ह। लसंति=सुशोभित होता है। पूजें=बराबरी करना। अष्टापद=सिंह, शुद्ध सोना। पत्री निश्चय दानि लेखि=मोहर बन्द चिट्ठी या सनद। सिखदा=शिक्षा देने वाली। अर्थदा=धन देने वाली। यशदा=कीर्ति देने वाली। तमगुण हरा=अँधेरा दूर करने वाली, दुःख दूर करने वाली। परतीति=विश्वास। दीरघ दरीन=बड़ी गुफाओं में। केसरी=सिंह, केसर। बनकरी=जंगली हाथी। चँपत है=त्रस्त होते हैं, डरते हैं। केका=मोर की बोली। बिलात=नष्ट होता है। जवास=आक वृक्ष, जो बरसात में सूख जाता है। दोपदसा=दीपक की बाती के समान।



कविवर सेनापति

सेनापति एक रसिक और प्रतिभाशाली कवि थे। इनका यह नाम उपनाम है या शुद्ध नाम है, यह कहना कठिन है। ये अनूपशहर के निवासी, कान्यकुब्ज ब्राह्मण, गंगाधर दीक्षित के पुत्र थे। इनका जन्मकाल सन् १५८९ के आसपास माना जाता है। इनके गुरु का नाम हीरामणि दीक्षित था। विद्वानों का अनुमान है कि इनका अधिकांश जीवन मुसलमानी दरबारों में बीता था। राम इनके उपास्य देव थे। प्रारम्भ में इन्होंने श्रृंगारपरक रचनाएँ की होंगी; वृद्धावस्था में ये वैराग्य की ओर झुक गए थे।

सेनापति का 'कवित्त रत्नाकर' प्रकृति-वर्णन के लिए एक अति प्रसिद्ध रचना है। अत्यन्त ललित पद-विन्यास में इन्होंने विविध ऋतुओं का वर्णन किया है। इन्हें अपनी रचना के प्रति बड़ा आत्मविश्वास था। अपने कवि-कर्म की श्रेष्ठता का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा भी है :—

"सेनापति सोई, सीतापति के प्रसाद जाकी
सब कवि कान दै सुनत कविताई है।"

इनका 'कवित्त-रत्नाकर' कवित्त छन्द में रचित है। ये कवित्त शब्द-चमत्कारपूर्ण अनुप्रासयुक्त और लयपूर्ण पदावली में रचित हैं। सेनापति चमत्कार-प्रदर्शन-प्रिय कवि हैं। प्रकृति का पर्यवेक्षण उन्होंने बड़ी सूक्ष्मता से किया था, इसीलिए इनकी रचनाएँ बड़ी लोकप्रिय हैं। अनुप्रास, यमक, श्लेष और रूपक इनके प्रिय अलंकार हैं। इनकी रचना अलंकारों से बोझिल होकर दुरूह नहीं होने पाई है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि "भाषा पर ऐसा अच्छा अधिकार कम कवियों का देखा जाता है।" काव्य में अनुप्रास और यमक की प्रचुरता होते हुए भी कहीं भद्दी कृत्रिमता नहीं आने पाई है।

सेनापति के भक्ति सम्बन्धी उद्‌गार भी बड़े मोहक हैं। 'काव्य कल्प-द्रुम' और 'कवित्त रत्नाकर' में उन्होंने भक्ति-सम्बन्धी कुछ चमत्कारपूर्ण

रचनाएँ भी लिखी हैं। इनके काव्य में ओज और माधुर्य गुणों का प्राधान्य है। भाषा प्रसंगोचित और कोमल पदावली-युक्त है।

शब्दार्थ : वृष=बारह राशियों में एक राशि। तरनि=सूर्य। तचति=तापित होती है। झुरत झरनि=ज्वाला में जलता है। सीरी=ठण्डी। विरमत हैं=विश्राम करते हैं। नैकु=तनिक। ढरकत=ढुलकने पर। धमका.... खरकत हैं=इतनी गरमी बढ़ती है कि पत्ते तक भी नहीं हिलते। सीकर=शीतलता। उनए=झुके। तोइ=जल, पानी। अनगन=अगणित। पानि=हाथ। सवितहू=सूर्य भी। चाहत=चाहने लगता है। क्वैला परचाएँ हैं=कोयला जलाया है।



कविवर बिहारीलाल

इनका जन्म ग्वालियर राज्य के अन्तर्गत बसुआ गोविन्दपुर नामक गाँव में सन् १६०३ के आसपास माना जाता है। ये जाति के माथुर चौबे बताए जाते हैं। इनकी बाल्यावस्था बुन्देलखंड में बीती थी। सम्भवत: इनकी ससुराल मथुरा में थी। ये जयपुर के मिर्जा राजा जयसिंह के राजकवि थे। ऐसा माना जाता है कि राजा जयसिंह उनका बहुत सम्मान करते थे। अपनी छोटी रानी के प्रेम में अनुरक्त राजा जयसिंह को इन्होंने ही विरत कराया था। इस प्रसंग से संबद्ध उनका यह दोहा प्रसिद्ध है—

"नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सों बँध्यो, आगे कौन हवाल॥"

उन्हीं के दरबार में रहते हुए उन्होंने स्वरचित सहस्राधिक दोहों में से ७०० से कुछ अधिक दोहों का संग्रह करके 'सतसई' के रूप में प्रस्तुत किया था। कुछ लोग इनकी पत्नी को भी कवयित्री मानते हैं। इनके पिता श्री केशवराय तो प्रसिद्ध कवि थे ही। ऐसा समझा जाता है कि

विहारी आचार्य केशवदास के भी सम्पर्क में आये थे। इस प्रकार उनका पूरा परिवेश ही काव्यमय था।

विहारी ने किसी लक्षण-ग्रन्थ की रचना नहीं की फिर भी नायिका-भेद, अलंकारों, रसांगों, रीतियों और गुणों के उदाहरण उनके दोहों मे मिलते हैं। शृंगार-रस के ग्रन्थों में 'विहारी सतसई' का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। विहारी मूलतः शृंगारी कवि हैं। सतसई में संयोग और वियोग की प्रायः सभी अवस्थाओं का चित्रण उन्होंने किया है। कहीं-कहीं वियोग-वर्णन में अतिशयोक्ति की मात्रा बढ़ गई है। संयोग-पक्ष में विहारी की सजीवता और निरीक्षण-शक्ति देखने योग्य है। उन्होंने नख-शिख, नायिका-भेद, प्रवास और हाव-भाव आदि को दोहों में बड़ी कुशलता के साथ साकार किया है। दो पंक्तियों में उन्होंने पूरा चित्र खड़ा कर दिया है। भावसुकुमारता और कोमलकान्त पदावली के प्रयोग में विहारी अद्वितीय है। भाव और वस्तुव्यंजना में उन्होंने कमाल कर दिया है। नेत्र और नारी-सौन्दर्यसम्बन्धी उनके कुछ दोहे अत्यन्त लोकप्रिय हैं। विहारी का उक्ति-कौशल प्रशंसनीय है। सतसई का प्रत्येक दोहा एक चित्र की सामग्री प्रस्तुत करता है। कम से कम शब्दों में अधिकतम भावों से पूर्ण होने के कारण बिहारी के दोहे 'गागर में सागर' वाली कहावत को पूर्ण चरितार्थ करते हैं। इन्हीं विशेषताओं को ध्यान में रखकर कहा गया है—

"सतसैया के दोहरे ज्यौं नावक के तीर।
देखत में छोटे लगैं घाव करैं गंभीर॥"

विहारी एक बहुज्ञ कवि थे। उन्हें काव्य-सृष्टि की अद्भुत प्रतिभा प्राप्त थी। साहित्य, नीति, राजनीति, ज्योतिष और ओषधि-शास्त्र आदि का उन्हें ज्ञान था। हाव-भाव और सूक्ष्म वस्तुओं का सूक्ष्मान्वेषण करने की उनमें अद्भुत शक्ति थी। उनकी सतसई खूब लोकप्रिय हुई। अनेक भाषाओं में उसका अनुवाद हुआ। उस पर अनेक टीकाएँ लिखी गई और सतसई के दोहों के भावानुसार चित्र भी बनाए गए।

बिहारी की भाषा व्रजभाषा है। इसमें उन्होंने अधिक तोड़-मरोड़

नहीं की है। आवश्यकता पड़ने पर उन्होंने संस्कृत और फारसी के शब्द भी ले लिए हैं।

शब्दार्थ : लुकाइ=छिपाकर। सगुनी दीपक देह=गुण से भरा शरीर, बत्ती से युक्त दीपक। पागि=सिक्त। लगालगी=मेल। लोइन=लोचन, आँखें। अनबूड़े बूड़े=जो पूर्ण रूप से मग्न नहीं हुए उनका जीवन निरर्थक हो गया। सब अंग=पूर्ण रूप से। चोल रंग=गेरुआ रंग। परेवा=कबूतर पक्षी। सपर=पंख सहित। पुहुमि=पृथ्वी। औथरी=उथला, छिछला। दई-दई=दैव-दैव, भाग्य का दिया हुआ। वाइ=वापी, छोटा सरोवर। कुरंग=हिरन। कनक=सोना, धतूरा। बिरियाँ=वेला, समय। करिया=नाविक। मोखु=मोक्ष। तोष=सन्तोष। गुननु=गुण, रस्सी।

●

भूषण

वीररस के प्रसिद्ध रीतिकालीन कवि भूषण सन् १६१३ में कानपुर के पास तिकवाँपुर नामक गाँव में पैदा हुए थे। ये जाति के कान्यकुब्ज त्रिपाठी ब्राह्मण थे। इनके दो अन्य भाई मतिराम और चिन्तामणि अपने समय के अच्छे कवि थे। चित्रकूट के सोलंकी राजा रुद्र ने इन्हें 'भूषण' (कवि भूषण) की उपाधि दी थी, तभी से भूषण उपनाम ही इतना प्रसिद्ध हो गया कि इनका मुख्य नाम क्या था, कोई नहीं जानता। भूषण का प्रारम्भिक जीवन-परिचय नहीं प्राप्त होता। ये कई राजदरबारों में गए, पर इनका मन कहीं नहीं रमा। छत्रपति शिवाजी और पन्ना के महाराज छत्रसाल इनकी प्रवृत्ति के विशेष अनुकूल सिद्ध हुए। इन्हीं दो दरबारों में इन्हें पर्याप्त सम्मान मिला और वहीं ये रहे भी। ऐसा कहा जाता है कि १०२ वर्ष की आयु बिताकर उनका परलोकवास हुआ।

इनकी तीन पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं—'शिवराजभूषण', 'शिवाबावनी'

और 'छत्रसालदसक'। इनके अतिरिक्त इनके तीन अन्य ग्रन्थ भी प्राप्त हुए हैं, जिनके नाम हैं—'भूषण-उल्लास', 'दूषण-उल्लास' और 'भूषण-हजारा'। इनकी सभी रचनाएँ अब 'भूषण-ग्रन्थावली' के नाम से प्रकाशित हो गई हैं। यद्यपि भूषण उस युग में पैदा हुए थे, जब कवियों में आचार्यत्व प्रदर्शन की होड़ लगी हुई थी और भूषण को भी कुछ उसका मोह हुआ था, लेकिन उनका मन शृङ्गारविषयक रचनाओं में बहुत कम लगा। उनकी रुचि वीररस में ही अधिक थी। भूषण हिन्दू संस्कृति के उन्नायक और उद्गाता हैं। मुसलमान शासकों और विशेषतः मुगल शासकों से उन्हें बड़ी चिढ़ थी। भूषण को शिवाजी और छत्रसाल के रूप में दो इतिहास प्रसिद्ध वीर और हिन्दू धर्म के रक्षक मिले। उनके हृदय में हिन्दुत्व के प्रति असीम प्रेम था। यदि कहा जाय कि शिवाजी और छत्रसाल में निहित हिन्दुत्व की प्रेमाग्नि को भूषण ने काव्य द्वारा प्रज्वलित किया तो अत्युक्ति नहीं होगी। उनकी कविता में ओज और वीरता का दर्प है। उन्होंने यद्यपि शृङ्गार के भी दो-चार कवित्त लिखे हैं लेकिन वीररस की रचनाओं के आगे उनका कोई मूल्य नहीं है। 'शिवराज-भूषण' अलंकार का ग्रन्थ है। अलंकारों के निरूपण में वे सफल नहीं हैं।

भूषण की भाषा तो व्रजभाषा ही है, लेकिन कहीं-कहीं शब्दों में पर्याप्त तोड़-मरोड़ की गई है। भाषा में शुद्धता नहीं है। उन्होंने फारसी और देशज शब्दों को भी स्वतन्त्रतापूर्वक लिया है। लोकोक्तियों और मुहावरों का इन्होंने बहुतायत से प्रयोग किया है। कहीं-कहीं अपभ्रंश के शब्दों को भी अपनाया गया है। भाषा वीररस के पूर्णतया उपयुक्त है।

शब्दार्थ : सिगरी=पूर्ण, सारी। पीर=पीड़ा, साधु। गुमान=गर्व, घमंड। खुमान=आयुष्मान्। अंझा=विघ्न। संझा=सन्ध्या, शाम का समय। गैबरन=हाथियों का। ऐल फैल=सेना का फैलाव। खैल भैल=खलभली हुई। गैल गैल=गली-गली। ठेल-पेल=भीड़-भाड़। सैल उसलत हैं=पर्वत टूटते हैं। पारा-वार=समुद्र। बाने=झण्डे। नग=पर्वत। कमठ=कच्छप।

दिगम्बर=शंकर। मंदर=महल, पर्वत। कन्दमूल=मेवे-पकवान, जड़ी-बूटी। तीन वेर=तीन बार, तीन वेर के फल। भूपन=आभूपण, भूख से। विजन=पंखा, जंगल। नगन=नगयुक्त-आभूषण, नग्न। आफताब=सूर्य। ताप''''ख्याल को=कष्ट देना छोड़कर दूसरों को सुख पहुँचाते हैं। तुरी=घोड़ा।



दीनदयाल गिरि

श्री दीनदयाल गिरि का जीवन-वृत्त वहुत कम ज्ञात हो पाया है। ये काशी निवासी किसी ब्राह्मण या क्षत्रिय-कुल में पैदा हुए थे। गृहस्थ न होकर इन्होंने संन्यासी का जीवन क्यों चुना, यह कहना कठिन है। ये दसनामी शैव संन्यासी थे और अपने गुरु श्री कुशागिरि के साथ रहते थे। इनके गुरु एक समृद्ध जमीन्दार और महन्त थे। उनकी मृत्यु के वाद उनके शिष्यों में संपत्तिविपयक कलह ने जड़ जमा ली, जिसका श्री दीनदयाल गिरि को वड़ा कष्ट था। काशी के पास भटौली गाँव के पास इनका मठ था, जहाँ गुरु की मृत्यु के उपरान्त ये आजीवन रहे। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पिता श्री गोपालचन्द्रजी की प्रेरणा से ये काव्य-रचना की ओर प्रवृत्त हुए थे।

ये स्वभाव से अत्यन्त सरल और विनोदी थे। परोपकारी और दयालु प्रकृति के होने के कारण इनका वड़ा सम्मान था। काशीनरेश तथा अन्य राजा-महाराजाओं के यहाँ इनका वड़ा आदर होता था। इनमें अन्य मठधारियों के दोष नहीं आ पाये थे। चरित्र भी बड़ा ही निर्मल था। इन्हें घोड़ों की वड़ी अच्छी पहचान थी। काशी से वड़ा प्रेम था। काशी को छोड़कर कुछ ही दिनों के लिये भी बाहर जाना इन्हें अच्छा नहीं लगता था। ऐसा कहा जाता है कि श्री दीनदयाल गिरि बड़े स्वाभिमानी व्यक्ति थे। चाहे जितना भी दुःख भोगना पड़ा हो, इन्होंने किसी के आगे सहायता

के लिए हाथ नहीं फैलाया। कर्मठ रहकर जीवन-यापन करना ये श्रेयस्कर समझते थे।

इन्होंने पाँच ग्रन्थों की रचना की थी—(१) अनुराग बाग, (२) दृष्टान्त तरंगिणी, (३) अन्योक्ति माला, (४) वैराग्य दिनेश और (५) अन्योक्ति कल्पद्रुम। अन्योक्तियों एवं नीति-वैराग्यविषयक रचनाओं के लिए इनका स्थान हिन्दी-साहित्य में बड़ा ही सम्मानपूर्ण हो गया है। भाषा पर इनका अच्छा अधिकार था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इनकी भाषा के विषय में कथन है—"इनकी-सी परिष्कृत स्वच्छ और सुव्यवस्थित भाषा बहुत थोड़े कवियों की है। कहीं-कहीं कुछ पूरबीपन या अव्यवस्थित वाक्य मिलते हैं, पर बहुत कम।"

इनकी 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' हिन्दी-साहित्य में एक अमूल्य रत्न है। इनकी अन्योक्तियाँ अत्यन्त मर्मस्पर्शी एवं तथ्योद्‌घाटिनी हैं। इनसे कवि के व्यावहारिक ज्ञान की गहराई का पता चलता है। इनकी रचनाओं में लौकिक और आध्यात्मिक पक्ष का बड़ा ही मंजुल मणिकांचन योग मिलता है। रचना में चमत्कारवृत्ति का अभाव और अनुभूतियों का सारल्य सोने में सुगन्ध है।

शब्दार्थ : साखिन = वृक्ष। हरिबर = बन्दर। माखि = कष्ट देकर। द्विजन = पक्षीगण। मित्र = सूर्य। दरे = नष्ट किया। संदोह = समूह। अवदात = निर्मल। ग्राव = ओले, पत्थर। काहल = परेशान करना। अंबक = नेत्र। अछत = रहते हुए।

●

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय का जन्म सन् १८६५ में आजमगढ़ जिले (उ० प्र०) के निजामाबाद नामक गाँव में हुआ था। एक सिक्ख धर्मोपदेशक बाबा सुमेरसिंह के सम्पर्क में रहने के कारण काव्य-रचना की ओर इनकी रुचि बचपन में ही हो गई थी। प्रारम्भ में ये व्रजभाषा

में समस्यापूर्ति या पादपूर्ति आदि किया करते थे। बाबा सुमेरसिंह की प्रेरणा से धीरे-धीरे कवि गोष्ठियों में भी भाग लेने लगे। अध्यापक और कानूनगो के रूप में बहुत दिनों तक काम कर लेने के बाद सेवानिवृत्त होकर मालवीयजी के अनुरोध से वे काशी हिन्दूविश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में आए। हरिऔधजी संस्कृत और फारसी के अच्छे ज्ञाता थे और तत्कालीन हिन्दी कवियों में उन्होंने अच्छा स्थान बना लिया था। कविता के क्षेत्र में व्रजभाषा और खड़ी बोली को काव्य के लिए उपयुक्त सिद्ध करने में उपाध्यायजी का योगदान बड़ा ही महत्वपूर्ण है। उनका स्वर्गवास ७ मार्च, सन् १९४७ को हुआ।

हरिऔधजी ने हिन्दी को जो रचनाएँ प्रदान की हैं, वे निम्नलिखित हैं—

१. खड़ी बोली काव्य—प्रियप्रवास, वैदेही-वनवास, पद्यपारिजात, चुभते चौपदे, चोखे चौपदे आदि।
२. व्रजभाषा-काव्य—रसकलश तथा स्फुट रचनाएँ।
३. गद्य—ठेठ हिन्दी का ठाठ, अधखिला फूल, वेनिस का बाँका, हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास।

इन्हें 'वैदेही वनवास' पर मंगलाप्रसाद पुरस्कार प्रदान किया गया था। 'प्रियप्रवास' एक महाकाव्य है, जो खड़ी बोली का प्रथम महाकाव्य माना जाता है। इसमें भगवान् कृष्ण का पावन चरित्र वर्णित हैं। इस प्रवन्ध-काव्य में राधा और कृष्ण का चरित्र गांधीयुग के अनुकूल चित्रित करने का प्रयास किया गया है। छन्द अधिकांशतः वार्णिक हैं।

इन्होंने संस्कृत प्रधान शब्दावली और संस्कृत-साहित्य में बहु-प्रयुक्त छन्दों में ही अधिकांश काव्य-रचना की है। कहीं-कहीं भाषा क्लिष्ट और समास-प्रधान हो गई है। कोमलकान्त पदावली का प्रयोग कर उन्होंने काव्य का रस खूब बढ़ाया है। भाषा की क्लिष्टता के आक्षेप का परिमार्जन उन्होंने 'चोखे चौपदे' और 'चुभते चौपदे' आदि ग्रन्थों में कर दिया है। ये रचनाएँ बोल-चाल की भाषा के बहुत निकट और मुहावरेदार हैं। इनकी रचनाओं

में अलंकारों का भी प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। संक्षेप में हरिऔधजी का भाषा और भावों पर अच्छा अधिकार था। इसीलिए आधुनिक कवियों में उनका उल्लेखनीय स्थान बन गया है।

शब्दार्थ : अनुरंजित = रंगमयी हो गई। विनिमज्जित = निमग्न हो गई। तरनिजा = जमुना। क्वणित = बजने लगे। रणित = ध्वनिमय। विषाण = सींग-शृंगी। समाहित प्रान्तर भाग = निकट का स्थान। अनालोकित = अन्धकारयुक्त।



राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त

गुप्तजी का जन्म सन् १८८६ ई० में झाँसी जिले के चिरगाँव नामक स्थान में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री रामचरण गुप्त था। गुप्तजी के जीवन पर काव्यप्रेमी पिता का पर्याप्त प्रभाव है। कविता के क्षेत्र में आने की प्रेरणा जिनसे गुप्तजी को मिली है, वे हैं उनके पिता एवं पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी। गुप्तजी उन्हीं को अपना काव्य गुरु मानते हैं। श्री मैथिलीशरण गुप्त को राष्ट्रकवि होने का गौरव प्राप्त हुआ है। उनकी रचनाओं की संख्या बहुत बड़ी है, जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—भारत-भारती, जयद्रथवध, हिन्दू, गुरुकुल, झंकार, द्वापर, साकेत, पंचवटी, रंग में भंग, वैतालिक, तिलोत्तमा, पत्रावली, शक्ति, शकुन्तला, चन्द्रहास, कर्बला, यशोधरा, किसान, सिद्धराज, प्लासी का युद्ध आदि। मेघनाद-वध और उमरखय्याम की रुबाइयाँ इनके पद्यबद्ध अनूदित ग्रन्थ हैं।

गुप्तजी ने पद्य के अतिरिक्त गद्य में भी रचना की है, लेकिन उनकी प्रसिद्धि का आधार मुख्यतः उनका काव्य-सर्जन ही है। सन् १९०७ ई० से गुप्तजी की रचनायें प्रकाश में आने लगी थीं। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी से उन्हें पर्याप्त मार्ग दर्शन मिला। गुप्तजी का परलोकवास १२ दिसम्बर, सन् १९६४ को हुआ।

गुप्तजी हमारे राष्ट्रीय एवं युग प्रतिनिधि कवि हैं। 'साकेत' और

'यशोधरा' उनके दो बड़े प्रवन्ध काव्य हैं। साकेत में उर्मिला का विरह-वर्णन बड़ा ही विशद है। 'रंग में भंग' इनकी प्रथम रचना है। 'भारत भारती' ने सर्वप्रथम लोगों का ध्यान इनकी ओर आकर्षित किया। यों तो इन्होंने कई प्रवन्ध-काव्य लिखे हैं, जिनमें 'रंग में भंग', 'जयद्रथ-वध', 'विकट भट', 'पलासी का युद्ध', 'गुरुकुल', 'किसान', 'पंचवटी' और 'सिद्धराज' आदि के नाम गिनाये जा सकते हैं, लेकिन गुप्तजी की ख्याति जिन रचनाओं के कारण बढ़ी उनमें 'साकेत', 'यशोधरा', 'भारत भारती', 'जयद्रथ-वध' और 'पंचवटी' विशेष उल्लेखनीय हैं।

गुप्तजी गांधीवादी और भक्त-हृदय कवि हैं। आचार और विचारों की सरलता ही उनके व्यक्तित्व की विशेषता है। वे राम के भक्त और सनातनी हैं, फिर भी राम को देखने का उनका दृष्टिकोण तुलसी से भिन्न है। गुप्तजी की प्रतिभा वहुमुखी है। उन्होंने समय-समय पर हिन्दी-साहित्य में आने वाले प्रवाहों को स्वीकार करने में हिचक नहीं दिखाई है। उनकी रचनाओं में राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति बड़े अच्छे ढंग से हुई है। रचनाओं के माध्यम से उन्होंने जनता को अहिंसा-सत्याग्रह, मानवतावाद और राष्ट्रीयता का सन्देश दिया है। गुप्तजी के व्यक्तित्व, उनकी अनुभूति और अभिव्यक्ति में प्राचीनता और नवीनता का वड़ा अच्छा सामंजस्य है। समाज के उपेक्षितों और शोषितों के वे परम हितैषी हैं।

गुप्तजी की रचनाओं में भाषा की सफाई देखने योग्य है। उन्होंने सरल, सुवोध और माधुर्यगुणयुक्त शुद्ध खड़ी बोली में काव्य-रचना की है। जहाँ छायावाद की ओर उनका झुकाव हुआ है वहाँ भाषा कुछ जटिल हो गई है, अन्यथा मधुर पद-विन्यास और परम्परागत छन्दों का प्रयोग कर उन्होंने भाषा को पर्याप्त रोचक बनाया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का उनके विषय में कथन ठीक ही है, "मैथिलीशरण गुप्त की प्रतिभा हिन्दी में अद्वितीय है, वे अव भी उतने नवीन हैं जितने आज से तीस वर्ष पहले थे।"

शब्दार्थ : उपलक्ष्य=साधन, उद्देश्य। नीलाम्बर=नीला आकाश, नीला वस्त्र। युग=दो। मेखला=करधनी (कमर में पहनने का

आभूषण)। रत्नाकर=समुद्र। पयोधि=सागर। त्राण=रक्षा। परमहंस=साधक की वह अवस्था जिसमें वह रागद्वेष आदि द्वैत भावों से मुक्त हो जाता है। अभ्रंकष=बादलों को छूने वाले, गगन-चुम्बी।

जयशंकर 'प्रसाद'

'प्रसाद'जी हिन्दी में छायावाद और रहस्यवाद के प्रवर्तकों में से हैं। उनका जन्म सन् १८८९ में काशी के सुप्रसिद्ध तम्बाकू के व्यापारी बाबू सुंघनी साहु के घराने में हुआ था। 'प्रसाद'जी के पिता का नाम बाबू देवीप्रसाद था। यह परिवार काशी में धनी और प्रतिष्ठित माना जाता था। 'प्रसाद'जी स्कूल में केवल कक्षा आठ तक शिक्षा पा सके थे, लेकिन घर रहकर उन्होंने अंग्रेजी, संस्कृत, उर्दू और बंगला का अच्छा अभ्यास किया था। 'प्रसाद'जी का परिवार काव्य-प्रेमी था, अतः काव्य-रचना के प्रति उनमें बचपन से ही रुचि थी। १५ वर्ष की अवस्था से ही वे काव्य-रचना में प्रवृत्त हुए थे।

श्री जयशंकर 'प्रसाद' प्रारम्भ में व्रजभाषा में कविता करते थे। सन् १९१३ से वे खड़ी बोली की ओर प्रवृत्त हुए। 'प्रसाद'जी बहुमुखी प्रतिभा लेकर पैदा हुए थे। विपरीत परिस्थितियों में भी उन्होंने प्रभूत साहित्य-सर्जन किया। उन्होंने नाटक, उपन्यास, कहानी, खण्डकाव्य और महाकाव्य आदि जिस किसी भी साहित्यविधा की रचना की, उस क्षेत्र में उन्होंने अपना स्थान बना लिया। उनकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

काव्य-सर्जन—झरना, प्रेमपथिक, काननकुसुम, लहर, आँसू, चित्राधार और कामायनी (महाकाव्य)।

उपन्यास—तितली, कंकाल और इरावती (अपूर्ण)।

कहानी-संग्रह—आकाशदीप, मधुआ, आँधी, छाया, प्रतिध्वनि और नवपल्लव।

नाटक—विशाख, राज्यश्री, अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, कामना, एक घूंट और ध्रुवस्वामिनी ।

प्रसादजी मुख्यत: प्रेम के कवि हैं । प्रेम की तीन स्थितियाँ उनके साहित्य में मिलती हैं—(१) व्यक्तिगत एवं ईश्वरोन्मुख, (२) प्रकृति-प्रेम, (३) संस्कृति और राष्ट्रप्रेम । 'प्रसाद'जी के प्रेम की गति लौकिक से अलौकिक की ओर है । प्रेम के वर्णन में रहस्योन्मुखता अधिक है । अनुभूतियों और अभिव्यक्ति की गूढ़ता उनके साहित्य में अधिक है । उनके काव्य में रहस्यवाद, अनूठी व्यंजना और चित्रविधान आदि सभी कुछ मिलते हैं । संस्कृत की कोमलकान्त पदावली का उन्होंने बड़े अनूठे ढंग से प्रयोग किया है । भाषा संस्कृतनिष्ठ है । हिन्दी को 'कामायनी' जैसा महाकाव्य देकर प्रसादजी अमर हो गये हैं । उनकी आध्यात्मिक मान्यताओं की झलक कामायिनी में आई है । प्रसादजी चिन्तन और अभिव्यक्ति की दृष्टि से परम्परावादी नहीं थे । उनमें मौलिक सूझ थी और आलोचकों की परवाह न करते हुए वे कार्य-रत रहते थे । यह हिन्दी-साहित्य का दुर्भाग्य था कि अड़तालीस वर्ष की अल्पायु में (सन् १९३७ में) उनका देहावसान हो गया ।

शब्दार्थ : अन्तराल = अन्तर, अन्दर । कगार = किनारा । विभ्रम = भ्रान्ति, आलस्य । रजनीगन्धा = रातरानी । आलोक = प्रकाश । अरुण-केतन = लाल झण्डा । वरुणा-पथ = समुद्र । लोहा = शस्त्र । सम्राट् (अशोक) । यवन (सिकन्दर) । स्वर्णभूमि (सुमात्रा) । झड़ी = वर्षा । विभावरी = रात्रि । नागरी = चतुर स्त्री । वरुणा = काशी और सारनाथ के बीच एक नदी । पार्थिव = लौकिक, सांसारिक ।

●

पं० माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा'

पं० नन्दलालजी चतुर्वेदी के पुत्र माखनलालजी का जन्म सन् १८८८ ई० में होशंगाबाद जिले के बावई नामक ग्राम में हुआ था । खंडवा (मध्य

प्रदेश) में शिक्षा प्राप्त कर वे वहीं अध्यापन का कार्य करने लगे। अंग्रेजी, संस्कृत, मराठी, गुजराती और बंगाली भाषाओं का इन्होंने अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। इसी अध्ययन और अध्यापन के बीच इन्होंने काव्य-रचना प्रारम्भ की। इनकी प्रारम्भिक रचनाएँ खंडवा से निकलने वाली 'प्रभा' नामक पत्रिका में निकलीं और अपनी राष्ट्रीय भावनाओं के कारण उनका खूब स्वागत हुआ। वहीं रहते हुए सन् १९६८ में उनकी इह-लीला समाप्त हुई।

पं० माखनलालजी ने राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया। सत्याग्रह में भाग लेने के कारण उन्होंने आठ वर्ष तक करावास भी भोगा, जिसके प्रभाववश इनके साहित्य में क्रान्ति का स्वर ऊँचा हुआ। इनकी वाणी बड़ी ओजस्विनी एवं विद्रोहयुक्त रही है।

इनकी प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

काव्य—शिशुपाल-वध, हिमकिरीटिनी, हिमतरंगिनी और त्रिधारा।

नाटक—श्रीकृष्णार्जुन-युद्ध। इन्होंने कुछ कहानियाँ तथा निबन्ध भी लिखे हैं। राष्ट्रीय भावना, प्रेम की मार्मिक अनुभूति एवं आध्यात्मिकता इनकी रचनाओं की प्रमुख विशेषताएँ हैं। इनके राष्ट्रीय काव्य में त्याग एवं उत्सर्ग की भावना का सुन्दर समावेश मिलता है। उनमें कल्पना भी बड़ी स्वस्थ एवं मनोहर रूप में मिलती है। प्रेम से सम्बन्धित रचनाओं में कोमलता एवं सुकुमारता देखने योग्य है। कोमल कल्पनाओं के द्वारा रहस्यवादी भावनाओं का विकास भी इनके कुछ काव्यों में मिलता है।

नवीन कल्पना, भावनाओं की सजावट और अहिंसाजन्य शान्ति इनके काव्य की आत्मा है। अपनी भावनाओं के प्रकाशन में इनकी निर्भयता एवं निडरता देखने लायक है। देशभक्ति का जो उदारस्वरूप इन्होंने अपनाया है वैसा हिन्दी के बहुत कम कवि ग्रहण कर सके हैं।

इनकी भाषा शुद्ध खड़ी बोली है। उसमें प्रवाह एवं ओज है। भाषा का रूप संस्कृतमय अवश्य है, पर उसकी स्वाभाविकता का स्वरूप सदा बना रहा है। इन्होंने कहीं-कहीं साधारण प्रयोग में आने वाले उर्दू के शब्दों

का प्रयोग किया है। अनेक विदेशी शब्दों को इन्होंने हिन्दी भाषा में व्यवहारोपयोगी बनाकर ग्रहण कर लिया है।

इनकी रचना 'हिम किरीटिनी' पर इन्हें 'देव पुरस्कार' तथा भारत सरकार का पुरस्कार प्राप्त हुआ है।

शब्दार्थ : मरकत=पन्ना, मणि।



पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

विचारों से अद्वैतवादी, भावनाओं से भक्त एवं प्रेमवादी तथा क्रान्तिवादी हिन्दी के महान् कवियों में निरालाजी अग्रणी थे। उनका जन्म बंगाल के मेदनीपुर जिले के महिषादल नामक राज्य में श्री पं० रत्नसहाय त्रिपाठी के घर सन् १८९६ ई० में हुआ था। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और इनका मूल स्थान उन्नाव जिले का गढ़कोला ग्राम था। बंगाली, संस्कृत, अंग्रेजी, हिन्दी एवं ब्रजभाषा का इन्होंने अच्छा परिचय प्राप्त किया था। संगीत एवं कलाओं में भी इन्होंने पांडित्य प्राप्त किया। पहले इन्होंने बंगला एवं संस्कृत में काव्य-रचना प्रारम्भ की। बाद में उन्होंने अपनी विदुषी पत्नी की प्रेरणा से हिन्दी में कविताएँ करना प्रारम्भ की। इसी के साथ उन्होंने दर्शनशास्त्र का भी अच्छा ज्ञानार्जन किया।

'निराला'जी ने काफ़ी अच्छा साहित्य प्रस्तुत किया। उनकी प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

काव्य-संग्रह—परिमल, गीतिका, तुलसीदास, अनामिका, कुकुरमुत्ता, अणिमा, बेला, नये पत्ते, अपरा और अर्चना।

उपन्यास—अप्सरा, अलका, प्रभावती, निरुपमा, उच्छृङ्खल, चोटी की पकड़, काले कारनामे और चमेली।

कहानी-संग्रह—लिली, सखी, चतुरी चमार, सुकुल की बीवी।

इनके अतिरिक्त उनके अनेक निबन्धों, जीवनियों एवं अनुवादों आदि का भी प्रकाशन हुआ है।

'निराला'जी के काव्य में सारे बन्धनों को तोड़कर भावों और छन्दों की स्वच्छन्दता को महत्त्व दिया गया है। काव्य के विषय एवं कला की स्वतन्त्रता में वे विश्वास रखते थे। गम्भीर दार्शनिक विषयों से लेकर सड़क के किनारे पत्थर तोड़ने वाली सामान्य मजदूरिन जैसे जीवन के साधारण से साधारण विषयों तक उनकी पैनी दृष्टि समान रूप से गई है। 'निराला'जी कवि एवं विचारक दोनों साथ-साथ थे।

काव्य में संगीत के नाद-सौन्दर्य से, छन्दों में अतुकान्त छन्दों से जो भावों के साथ-साथ बनते और आकार धारण करते हैं तथा उदात्त भावों के फूलों से 'निराला'जो ने अपनी काव्यकला का शृंगार किया।

'निराला'जी जहाँ एक ओर संस्कृत की कोमल पदावली का प्रयोग करते थे, वहीं व्यवहार में आने वाले अरबी, फारसी के शब्दों का भी धड़ल्ले से प्रयोग करते थे। इनकी भाषा के विविध रूप होते हुए भी उसमें अपनी एक विशेषता थी और उसका एक निरालापन था।

'निराला' जी हिन्दी के अकेले ऐसे कवि थे जिनके प्रयोगों, छन्दों और कविता के स्वरूप आदि को लेकर खूब विरोध किया गया और हँसी में उड़ा देने का प्रयत्न भी किया गया, परन्तु उसका इन पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। उलटे वे बिना किसी की परवाह किए आगे बढ़ते ही गए। लम्बी मानसिक एवं शारीरिक बीमारी के कारण उनकी मृत्यु १५ अक्तूबर, '६१ को इलाहाबाद में हुई।

शब्दार्थ : तिमिरांचल = अन्धकाररूपी वस्त्र। अलसता = आलस्य। नीरव=शान्त। कमनीय=सुन्दर। विहाग=राग विशेष।

•

सुमित्रानंदन पंत

अल्मोड़ा जिले के कौसानी नामक ग्राम में पं० गंगादत्त पंत के यहाँ सुमित्रानन्दन पन्त का जन्म सन् १९०० ई० में हुआ था। इनकी शिक्षा

प्रयाग में हुई थी। अंग्रेजी, संस्कृत और बँगला साहित्य का इन्हें अच्छा ज्ञान है। प्रकृति-प्रेम इनके काव्य में सर्वत्र छलकता है। संगीत में उनकी अच्छी रुचि है।

पंतजी ने काव्य के साथ नाटक, उपन्यास एवं कहानियों की रचना भी की है, परन्तु इन सबमें इनका कविरूप ही श्रेष्ठ है। इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं :—

महाकाव्य—लोकायतन्।

काव्य-संग्रह—उच्छ्वास, पल्लव, वीणा, ग्रंथि, गुञ्जन, युगान्त, युगवाणी, ग्राम्या, स्वर्ण-किरण, स्वर्ण-धूलि, युगपथ, खादी के फूल, उत्तरा एवं कला और बूढ़ा चाँद आदि।

नाटक—परी, क्रीड़ा, रानी और ज्योत्स्सना।

उपन्यास—हार।

कहानी-संग्रह—पाँच कहानियाँ।

इन्हें अपनी जन्म-भूमि के प्राकृतिक सौन्दर्य से काव्य-रचना की बहुत बड़ी प्रेरणा मिली है। स्वामी विवेकानन्द, रामतीर्थ, गांधी तथा अरविन्द के विचारों का उनपर गहरा प्रभाव पड़ा है। अंग्रेजी के कलाकारों ने भी उन्हें बहुत अंश तक प्रभावित किया है। पन्तजी स्वभाव से अत्यन्त भावुक कवि हैं। यही कारण है कि वैचारिक क्षेत्र की प्रत्येक नवीनता ने उन्हें प्रभावित किया है।

उनकी रचनाओं में प्रकृति की सुन्दरता का स्वरूप बड़े मधुर ढंग से व्यक्त किया हुआ मिलता है। प्रेम का अत्यन्त सुकुमार रूप इनके काव्य में देखने को मिलता है। इनकी रचनाओं में जो रहस्यवादिता दिखाई देती है वह सीधे कला से सम्बन्ध रखती है। जीवन की कठोरताओं के बीच भी कवि आशावादी बना रहता है। पन्तजी के काव्य में उच्चादर्शों के प्रति प्रेम तथा आत्मसाधना को बड़ा महत्त्व मिला है। पुरानी रूढ़ियों को दूर कर नए युग की कल्पना और निर्माण में कवि का विश्वास है। ग्राम्य-जीवन के बड़े ही मनोरम चित्र पन्तजी के काव्य में मिलते हैं।

पन्तजी के गीतों में भावुकता, कोमलकल्पना एवं दार्शनिकता आदि सभी मनोहर रूप में दिखाई देती हैं।

पन्तजी ने अपनी भाषा को लय, ताल एवं संगीत के अधिक अनुरूप रखने की सदैव चेष्टा की है। शब्दों के चुनाव में उनकी कोमलता एवं मधुरता पर उन्होंने बहुत ध्यान दिया है। संस्कृत भाषा के सरल तत्सम रूपों को ही अपने काव्य में इन्होंने स्थान दिया है। उन्होंने नए-नए शब्दों को गढ़कर भी काव्य में प्रयुक्त किया है। व्याकरण के बन्धनों को तोड़कर भी भाषा को उन्होंने कहीं-कहीं अपने मनोनुकूल बना लिया है। सांकेतिकता इनकी भाषा का विशेष गुण है।

शब्दार्थ : दारु=लकड़ी, देवदारु। रूपसि=सुन्दरि। केश-कलाप=बाल-जाल। मंथर=मन्दगति। तिर्यक्=तिरछा, टेढ़ा। जलजात=कमल। लोल=चंचल। रोल=ध्वनि। स्तब्ध=शान्त। भीम=भयानक। तमसाकार=अन्धकारमय। तपक तड़ित=बिजली की चमक। इंगित=संकेत। मिस=बहाना। सहचर=साथी। अस्थिशेष=जिसकी हड्डियाँ ही शेष बची हों। समासीन=स्थापित। नि:स्व=निस्वार्थ। तमिस्र=अन्धकार। पूत=पवित्र। पंकज=कमल। दुर्वह=असह्य। स्पृहा=इच्छा। 'ह्लाद'=आनन्द।



महादेवी वर्मा

हिन्दी के छायावादी कवियों में महादेवी वर्मा का विशेष स्थान है। इनका जन्म सन् १९०७ के लगभग फर्रुखाबाद में हुआ था। इनके पिता, बाबू गोविन्दप्रसाद, एक कॉलेज में प्रोफेसर थे और माँ, हेमरानी देवी हिन्दी भाषा की अच्छी ज्ञाता थीं।

महादेवी वर्मा प्रयग विश्वविद्यालय से एम० ए० हैं। अपने शिक्षण-काल से ही उनमें गम्भीर अध्ययन एवं चित्रकला के प्रति विशेष अनुराग

रहा है, जिसका स्पष्ट प्रभाव उनकी रचनाओं में भी दिखाई देता है। वे प्रयाग महिला विद्यापीठ की प्रधानाचार्या के रूप में शिक्षाजगत् को उन्होंने अमूल्य देन दी है।

कविताओं के अतिरिक्त निबन्ध, कहानियाँ और आलोचना के क्षेत्र में उनका समानाधिकार है। उनकी प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

पद्य—नीहार, रश्मि, नीरजा, सान्ध्यगीत, यामा और दीपशिखा।

गद्य—अतीत के चलचित्र, स्मृति की रेखाएँ, शृंखला की कड़ियाँ, हिन्दी का विवेचनात्मक गद्य आदि।

'नीरजा' और 'यामा' पर तो उन्हें सेक्सरिया तथा मंगलाप्रसाद पुरस्कार भी मिल चुके हैं।

महादेवीजी का काव्य मुख्यतः रहस्योन्मुखी है। अव्यक्त के प्रति प्रेम के करुणा और वेदनामय पक्ष को अपनी कविताओं में इन्होंने बड़ी सजीवता एवं गहराई से चित्रित किया है। जीवन की करुणा को प्रकृति के आधार पर व्यक्त करने में महादेवीजी कुशल हैं। इनके काव्य की विशेषताओं में उनकी चित्रमयता प्रमुख है, जो उनकी कल्पना का पूर्ण एवं साकार रूप आँखों के सामने खड़ा कर देती है। गीतात्मकता, भाव-गोपनता एवं करुणापूर्ण विचारधारा उनके काव्य की अन्य विशेषताएँ हैं। उनके काव्य में करुण-भावना का अत्यन्त व्यापक उद्रेक ही उनकी 'आधुनिक मीरा' की उपाधि का कारण हैं।

उनके काव्य की भाषा बड़ी परिष्कृत एवं मधुर है, परन्तु इससे उसकी कल्पनानुरूपता एवं सुन्दरता में कोई कमी नहीं आती। शब्दों की योजना अत्यन्त अनूठी है। कोमलता उसका विशेष गुण है। यह बात अवश्य है कि उनके द्वारा काव्य में स्वीकृत तारक, दीपक, सागर एवं तरी आदि प्रतीकों को भली प्रकार समझे बिना उनकी कविता का भाव समझना कठिन हो जाता है। महादेवी अपनी विशेष शैली एवं भाषा के कारण हिन्दी के कवियों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

शब्दार्थ : स्पन्दन = गति। निर्झरिणी = स्रोत। दुकूल = चादर। बयार = पवन। अलिन्द = बरामदा। दहली = द्वार। अन्तर्हित = लीन, डूबा हुआ। सुधि = याद, स्मृति। गुण्ठन = पर्दा, आवरण। चिन्मय = चेतनतायुक्त। मृण्मयी = मर्त्य। विरज = विशुद्ध, पवित्र।

●

रामधारीसिंह 'दिनकर'

विहार के सिमरिया घाट नामक स्थान में दिनकरजी का जन्म सन् १९०८ ई० में हुआ था। इतिहास विषय लेकर पटना विश्वविद्यालय से इन्होंने सन् १९३२ ई० में बी० ए० (आनर्स) किया। प्रारम्भ से ही ये अध्ययनशील रहे हैं। मैथिलीशरण गुप्त की रचना 'भारत-भारती' तथा रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक' ने इन्हें अत्यधिक प्रभावित किया था।

दिनकरजी की प्रमुख काव्य-रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

काव्य-संग्रह—रेणुका, हुंकार, द्वन्द्वगीत, रसवन्ती, सामधेनी, बापू, धूप और धुआँ, नीलकुसुम, मृत्तितिलक आदि।

प्रबन्ध-काव्य—रश्मिरथी, कुरुक्षेत्र, उर्वशी आदि। 'बाल-साहित्य' को भी दिनकरजी ने अपनी प्रतिभा का दान दिया है। इनके अतिरिक्त दिनकरजी के अनेक आलोचनात्मक एवं चिन्तनप्रधान मौलिक गद्य-ग्रन्थ प्रकाशित हैं, जिनमें 'मिट्टी की ओर', 'अर्द्धनारीश्वर', 'रेती के फूल', 'काव्य की भूमिका', 'संस्कृति के चार अध्याय' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

'दिनकर'जी की ख्याति राष्ट्रीय कवि के रूप में सबसे अधिक है। इतिहास के स्वर्णिम दिनों की याद कर वर्तमान की हीन दशा के प्रति उनके काव्य में असन्तोष की भावना दिखाई पड़ती है। बीते दिनों का गौरव बड़े सुन्दर एवं स्वाभाविक रूप से उन्होंने चित्रित किया है। उन दिनों की याद में दिनकर की वाणी में भारतीय आत्मा का उल्लसित स्वरूप दिखाई देता है। कवि क्रान्ति में ही देश का कल्याण देखता है। कवि का भाग्य एवं कर्मवाद दोनों में विश्वास है। उनमें राष्ट्रीयता का

सफल चित्रांकन करने की अपूर्व शक्ति है। अधिकार-प्राप्ति के लिए संघर्ष एवं वीरता में कवि का विश्वास स्पष्ट रूप से प्रकट हुआ है।

'दिनकर'जी की कल्पना ने धरती पर निवास करने वाले मजदूर, निर्धन किसान और झोंपड़ी को अपनी सीमा में बड़ी सहानुभूति एवं मार्मिकता के साथ समेटा है।

कवि ने शुद्ध खड़ी बोली का अपने काव्य में प्रयोग किया है जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग विशेषकर किया गया है। भाषा व्याकरण की दृष्टि से दोषहीन है। सीधी-सादी भाषा उनकी रचनाओं में निहित काव्य-सौन्दर्य की वृद्धि करती है। उनकी भाषा में उर्दू और फारसी के बहुप्रचलित शब्दों का प्रयोग भी मिलता है परन्तु वहीं जहाँ उनकी अत्यन्त आवश्यकता हुई है।

कवि अपने देश के वीरों एवं महापुरुषों के विचारों और कार्यों से प्रेरणा ग्रहण करता है। अपने चारों ओर चलने वाले अनाचार और अन्यायों से वह प्रभावित होता है और अपनी वाणी से उसका विरोध करने में पीछे नहीं रहता। दिनकरजी राष्ट्रीय आन्दोलन को चलाने के लिए 'शांति, क्रांति नहीं' की उपासना में विश्वास रखने वाले कवि नहीं हैं'।

शब्दार्थ : सुगबुगा उठी=सुलग उठी। इठलाना=गर्व का अनुभव करना, गर्व करना। एहसास=अनुभूति। जन्तर-मन्तर=युक्ति, उपाय। ताव=शक्ति। अब्द=वर्ष। गवाक्ष=खिड़की। गिट्टी=कंकड़, पत्थर के छोटे टुकड़े। मर्सिया तराना=विलाप गीत। गुलची=माली। सैन=संकेत। हया=लज्जा। ज़ईफ=वृद्ध। जन्नत=स्वर्ग। पैमाना=शराब का प्याला। वीथि=गली।



सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'

श्री 'अज्ञेय' का जन्म एक सारस्वत ब्राह्मण परिवार में ७ मार्च, सन् १९११ ई० को हुआ था। उनके पिता श्री हीरानन्द शास्त्री देश के गिने-

चुने पुराविदों में माने जाते थे और पुरातत्त्व विभाग के एक उच्च सरकारी अधिकारी के रूप में नियुक्त थे। 'अज्ञेय' को बाल्यावस्था में ही पिता के साथ इस देश के प्रायः सभी प्रमुख नगरों की यात्रा का लाभ प्राप्त हुआ था। फलतः जन्मजात प्रतिभा के धनी 'अज्ञेय' को एक प्रतिभाशाली छात्र के रूप में उभरने में बड़ी सहायता मिली थी। उन्होंने लाहौर से मैट्रिक, मद्रास से विज्ञान में इन्टरमीडिएट और पुनः लाहौर से ही बी० एस-सी० की उपाधि प्रथम या द्वितीय स्थान प्राप्त कर उत्तीर्ण की। सन् १९२९ में १८ वर्ष की अवस्था में उन्होंने एम० ए० में पढ़ना आरम्भ किया, परन्तु पंजाब के क्रान्तिकारी आन्दोलन के प्रभाव में आकर उस समय उन्होंने उसे पूरा नहीं किया।

सन् १९३१ से '३६ तक वे विभिन्न आन्दोलनों में भाग लेते और जेलयात्रा करते रहे। परन्तु इसी बीच साहित्य-साधना भी आरम्भ हो गई थी और ग्रन्थों का प्रकाशन होने लगा था। उन्होंने 'सैनिक' और 'विशाल भारत' में सम्पादक के रूप में भी कार्य किया। सन् १९३९ से '४२ तक तथा १९५० से '५५ तक ऑल इण्डिया रेडियो में भी वे नियुक्त रहे। १९४३ ई० से '४६ तक वे सैनिक-सेवा में भी रह चुके थे। इस बीच उन्होंने एक बार पुनः देशाटन किया और खूब ज्ञानार्जन किया। एक साहित्यकार के रूप में भी वे प्रतिष्ठित होते जा रहे थे। १९५५-'५६ में 'यूनेस्को' के निमन्त्रण पर उन्होंने यूरोपीय देशों की यात्रा की। १९६१ में वे कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय में भारतीय संस्कृति के प्राध्यापक के रूप में नियुक्त हुए और कई वर्षों तक वहाँ रहे। अब तक उन्होंने अनेक देशों की यात्रा की है।

उनका जीवन ऐसे यायावर का जीवन है जो एक स्थान पर अधिक दिनों तक कभी भी स्थिर नहीं रहता। चाहे नौकरी की बात हो या निवास की समस्या हो, उन्होंने अपनी गतिशीलता कायम रखी। अपनी इस अस्थिरता के बीच उन्होंने साहित्य-सर्जन में कोई गतिरोध नहीं आने दिया। फलतः उनके दो दर्जन से अधिक कविता, कहानियों आदि के संग्रह

प्रकाशित हो चुके हैं और साथ ही उपन्यासकार, निवन्धकार और आलोचक के रूप में भी 'अज्ञेय'जी अपने एतद्विषयक ग्रन्थों के माध्यम से पूर्णरूप से प्रतिष्ठित हो चुके हैं। आज तो वे 'नया साहित्य' और 'नई कविता' के एक उच्चतम मानदंड बन गये हैं। उनकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

कविता-संग्रह—भग्नदूत, चिन्ता, इत्यलम्, हरी घास पर क्षण भर, बावरा अहेरी, इन्द्र धनु रौंदे हुए ये, अरी ओ करुणा प्रभामय, आँगन के पार द्वार, प्रिजन एण्ड अदर पोयम्स (अंग्रेजी में) आदि।

कहानी-संग्रह—विपथगा, परम्परा, कोठरी की वात, शरणार्थी, जयदोल, ये तेरे प्रतिरूप आदि।

उपन्यास—शेखर एक जीवनी (दो भागों में), नदी के द्वीप, अपने-अपने अजनबी।

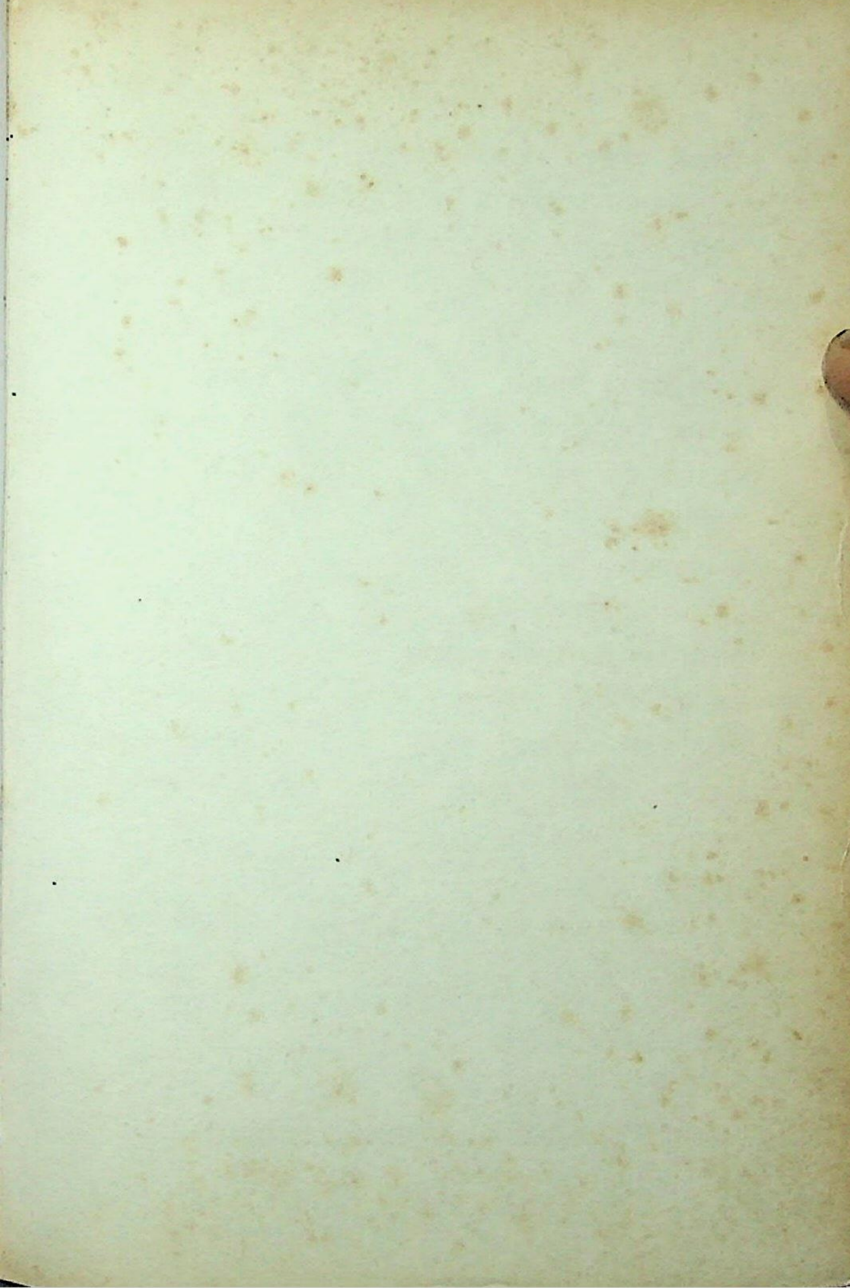
भ्रमण-वृत्तान्त—अरे यायावर रहेगा याद, एक बूँद सहसा उछली।

निबन्ध-संग्रह—त्रिशंकु, सब रंग, आत्मनेपद आदि। इनके अतिरिक्त उनके द्वारा अनेक ग्रन्थों का सम्पादन हुआ है जिनमें आधुनिक हिन्दी-साहित्य, तार सप्तक, दूसरा तार सप्तक, तीसरा तार सप्तक, पुष्करिणी (दो भाग), रूपाम्बरा, नेहरू अभिनन्दन ग्रन्थ आदि उल्लेख्य हैं।

अभी 'अज्ञेय'जी की साहित्य-साधना चल रही है। उनके कितने पुष्प माँ भारती के अंचल में समर्पित होंगे इसे कहना कठिन है। 'अज्ञेय' के विचारों की प्रौढ़ता और चिन्तनधारा भी सतत आगे बढ़ रही है।

'अज्ञेय'जी जहाँ एक कवि के रूप में आधुनिक एवं समसामयिक कविता के मानदण्ड हैं, वहीं उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में भी आधुनिकता के बोध की दृष्टि से एक प्रमाण के रूप में हैं। अभिव्यक्ति, शैली एवं चिन्तन की दृष्टि से उनका साहित्य सतत प्रयोगशील बना हुआ है। उनके चिन्तन में हुए विकास की कड़ियाँ भी स्पष्ट हैं। अभी उनके सम्बन्ध में इदंमित्थम् कहना उचित नहीं है।





भाषा, साहित्य, समीक्षा



विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

मूल्य : पच्चीस रुपये